तू किसी भी धर्मको मानता हो, उसका मुझे पक्षपात नहीं। मात्र कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस राहसे संसार-मलका नाश हो, उस भक्ति, उस धर्म, और उस सदाचारका तू सेवन करना। (पुष्पमाला १५).

सर्वज्ञभगवान्‌का कहा हुआ गुप्त तत्त्व प्रमादस्थितिमें आ पड़ा है; उसे प्रकाशित करनेके लिये, तथा पूर्वाचार्योंके गूँथे हुए महान् शास्त्रोंको एकत्र करनेके लिये, पड़े हुए गच्छोंके मतमतांतरको हटानेके लिये, तथा धर्मविद्याको प्रफुल्लित करनेके लिये सदाचरणी श्रीमान् और धीमान् दोनोंको मिलकर एक महान् समाजकी स्थापना करनेकी आवश्यकता है। पवित्र स्याद्वादके तत्त्वोंको प्रसिद्धिमें लानेका जबतक प्रयत्न नहीं होता, तबतक शासनकी उन्नति भी न होगी। (मोक्षमाला पाठ ९९).

व्यास, वाल्मीकि, शंकर, गौतम, पतंजलि, कपिल और युवराजशुद्धोदनने अपने प्रवचनोंमें मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश किया है, उसका रहस्य नीचेके शब्दोंमें कुछ कुछ आ जाता है—

“ अहो प्राणियो! संसाररूपी समुद्र अनंत और अपार है। इसका पार पानेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो!” (भावनाबोध पृ. ९८).

प्रकाशक — सेठ मणिलाल, रेवाशंकर जगजीवन जौहरी
ऑ० व्यवस्थापक [illegible] बम्बई [illegible]
मुद्रक — रघुनाथ दिपाजी देसाई [illegible]
गिरगाँव बम्बई।

उपोद्घात

इन तीन भागोंमें लिखनेका था; परन्तु अन्तके दो भागोंको वे नहीं लिख सके। प्रज्ञावबोध भा अपनी अस्वस्थ अवस्थाके समय केवल संकलनामात्र ही लिखा सके, जो हिन्दीके बड़े ' राजचन्द्र ' में पृष्ठ ७९८–९ पर दी गई है।

श्रीमद् राजचन्द्र स्वयं मोक्षमालाके विषयमें लिखते हैं—" यह पुस्तक भाषाज्ञानकी पुस्त तरह पठन करनेकी नहीं, किन्तु मनन करनेकी है। उसमें जैनमार्गको यथार्थ समझानेका किया है। इसमें जिनोक्तमार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं कहा। जिससे वीतराग मार्गपर आबाल रुचि हो, उसका स्वरूप समझमें आवे, उसके बीजका हृदयमें रोपण हो, इस हेतुसे उसकी बालाव रूप योजना की है। इसमें जिनेश्वरके सुंदर मार्गसे बाहरका एक भी अधिक वचन रखनेका प्रयत्न किया। जैसा अनुभवमें आया और कालभेद देखा, वैसे ही मध्यस्थतासे यह पुस्तक लिखी है।"

मोक्षमालाकी प्रथम आवृत्ति, मोक्षमालाके लिखे जानेके दो वर्ष पश्चात् सं. १९४४ में प्रक हुई थी। सं. १९५८ में इसकी द्वितीय आवृत्ति निकली। इस आवृत्तिमें स्वयं राजचन्द्रजीने और वाक्यरचनामें कुछ हेरफेर कराया था। मोक्षमालाकी यह प्रथम आवृत्ति द्वितीय आवृत्तिमें किये संशोधनोंके साथ अभी हालमें श्रीयुत् हेमचन्द्र टोकरशी मेहताने 'श्रीमद् राजचन्द्र' के गु संस्करणमें पुनः प्रकाशित की है। इसके पश्चात् सं. १९६२ में परमश्रुतप्रभावक मंडलकी श्रीयुत मनसुखलाल कीरतचंदद्वारा संशोधित मोक्षमालाकी तृतीय आवृत्ति निकली। इस संस्क संशोधकने बहुत सी जगह मात्र भाषाशैलीमें कुछ संशोधन-परिवर्तन किया था। यहाँ मोक्षमालाकी तृतीय आवृत्तिका हिन्दी अनुवाद दिया गया है। मोक्षमालाका यह सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद है। राजचन्द्रने मोक्षमालाकी प्रथम आवृत्तिकी प्रस्तावनामें जो शब्द लिखे थे वे यहाँ दिये जाते हैं:—

" [शिक्षणपद्धति और मुखमुद्रा

यह एक स्याद्वाद तत्त्वावबोध वृक्षका बीज है। इस ग्रन्थमें तत्त्वप्राप्तिकी जिज्ञासा करनेकी कुछ अंशमें भी शक्ति मौजूद है, यह मैं समभावसे कहता हूँ।

पाठक और वाचक वर्गको मुख्य अनुरोध यह है कि शिक्षापाठोंका पाठ करनेकी अ जैसे बने वैसे, उनका मनन करना चाहिये; उनके तात्पर्यका अनुभव करना चाहिये; जि समझमें न आता हो, उन्हें ज्ञाता शिक्षक अथवा मुनियोंसे समझना चाहिये; और यह साधन हो तो उन पाठोंको पाँच सात बार बाँच जाना चाहिये। एक पाठको बाँच जानेके पश्चात् घड़ी उसपर विचार कर अंतःकरणसे पूँछना चाहिये कि इसका क्या तात्पर्य मिला? उस तात्प हेय, ज्ञेय और उपादेय क्या है? ऐसा करनेसे समस्त ग्रंथ समझमें आ सकेगा। हृदय कोमल विचारशक्ति विकसित होगी; और जैन तत्त्वपर उत्तम श्रद्धा होगी। यह ग्रंथ कुछ पढ़नेके लिये परन्तु मनन करनेके लिये है। इसमें अर्थपूर्ण शिक्षाकी योजना की है। वह योजना 'बालावबोध' है। इसके 'विवेचन' और 'प्रज्ञावबोध' [illegible] भिन्न है। यह इनमेंका एक भाग है, फिर भी [illegible]

[illegible]

रायचन्द भाई के कुछ संस्मरण

प्रकरण पहला

प्रास्ताविक

मैं जिनके पवित्र संस्मरण लिखना आरंभ करता हूँ, उन स्वर्गीय श्रीमद् राजचन्द्र की आज जन्मतिथि है। कार्तिक पूर्णिमा (संवत् १९२४) को उनका जन्म हुआ था। मैं कुछ यहाँ श्रीमद् राजचन्द्र का जीवन चरित्र नहीं लिख रहा हूँ। यह कार्य मेरी शक्ति के बाहर है। मेरे पास सामग्री भी नहीं। उनका यदि मुझे जीवन चरित्र लिखना हो तो मुझे चाहिये कि मैं उनकी जन्मभूमि ववाणीआ बंदर में कुछ समय बिताऊँ, उनके रहने का मकान देखूँ, उनके खेलने कूदने के स्थान देखूँ, उनके बाल-मित्रों से मिलूँ, उनकी पाठशाला में जाऊँ, उनके मित्रों, अनुयायियों और सगे-संबंधियों से मिलूँ, और उनके जानने योग्य बातें जान-कर ही फिर कहीं लिखना आरंभ करूँ। परंतु इनमें से मुझे किसी भी बात का परिचय नहीं।

इतना ही नहीं, मुझे संस्मरण लिखने की अपनी शक्ति और योग्यता के विषय में भी शंका है। मुझे याद है मैंने कई बार ये विचार प्रकट किये हैं कि अवकाश मिलने पर उनके संस्मरण लिखूँगा। एक शिष्य ने जिनके लिये मुझे बहुत मान है, ये विचार सुने और मुख्य रूप से यहाँ उन्हीं के संतोष के लिये यह लिखा है। श्रीमद् राजचन्द्र को मैं 'रायचंद भाई' अथवा 'कवि' कहकर प्रेम और मान-पूर्वक संबोधन करता था। उनके संस्मरण लिख-कर उनका रहस्य मुमुक्षुओं के समक्ष रखना मुझे अच्छा लगता है। इस समय तो मेरा प्रयास केवल मित्र के संतोष के लिये है। उनके संस्मरणों पर न्याय देने के लिये मुझे जैन-मार्ग का अच्छा परिचय होना चाहिये। मैं स्वीकार करता हूं कि वह मुझे नहीं है। इसलिये मैं अपना दृष्टि-बिन्दु अत्यंत संकुचित रखूँगा। उनके जिन संस्मरणों की मेरे जीवन पर छाप पड़ी है, उनके नोट्स और उनसे जो मुझे शिक्षा मिली है, इस समय उसे ही लिख कर मैं संतोष मानूँगा। मुझे आशा है कि उनसे जो लाभ मुझे मिला है वह या वैसा ही लाभ उन संस्मरणों के पाठक मुमुक्षुओं को भी मिलेगा।

'मुमुक्षु' शब्द का मैंने यहाँ जान बूझ कर प्रयोग किया है। सब प्रकार के पाठकों के लिये यह प्रयास नहीं।

मेरे ऊपर तीन पुरुषों ने गहरी छाप डाली है—टाल्सटॉय, रस्किन और रायचंद भाई। टाल्सटॉय ने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्र व्यवहार से; रस्किन ने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' से, जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है; और रायचन्द भाई ने अपने साथ गाढ़ परिचय से। जब मुझे हिन्दू धर्म में शंका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करने में मदद करनेवाले रायचन्द भाई थे। सन १८९३ में दक्षिण

आफ्रिका में मैं कुछ क्रिश्चियन सज्जनों के विशेष संबंध में आया। उनका जीवन स्वच्छ था, वे चुस्त धर्मात्मा थे। अन्य धर्मियों को क्रिश्चियन होने के लिये समझाना उनका मुख्य व्यवसाय था। यद्यपि मेरा और उनका संबंध व्यावहारिक कार्य को लेकर ही हुआ था तो भी उन्होंने मेरी आत्मा के कल्याण के लिये चिंता करना शुरू कर दिया। उस समय मैं अपना एक ही कर्त्तव्य समझ सका कि जब तक मैं हिन्दू धर्म के रहस्य को पूरी तरह से न जान लूँ और उससे मेरी आत्मा को असंतोष न हो जाय, तब तक मुझे अपना कुलधर्म कभी न छोड़ना चाहिये। इसलिये मैंने हिन्दू धर्म और अन्य धर्मों की पुस्तकें पढ़ना शुरू कर दी। क्रिश्चियन और मुसलमानी पुस्तकें पढ़ीं। विलायत के अंग्रेज मित्रों के साथ पत्र-व्यवहार किया। उनके समक्ष अपनी शंकायें रक्खीं। तथा हिन्दुस्तान में जिनके ऊपर मुझे कुछ भी श्रद्धा थी उनसे पत्र-व्यवहार किया। उनमें रायचन्द्र भाई मुख्य थे। उनके साथ तो मेरा अच्छा संबंध हो चुका था। उनके प्रति मान भी था, इसलिये उनसे जो मिल सके उसे लेने का मैंने विचार किया। उसका फल यह हुआ कि मुझे शांति मिली। हिन्दू धर्म में मुझे जो चाहिये वह मिल सकता है, ऐसा मनको विश्वास हुआ। मेरी इस स्थिति के जवाबदार रायचंद भाई हुए, इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिये, इसका पाठक लोग कुछ अनुमान कर सकते हैं।

इतना होने पर भी मैंने उन्हें धर्मगुरु नहीं माना। धर्मगुरु की तो मैं खोज किया ही करता हूं, और अब तक मुझे सबके विषय में यही जवाब मिला है कि 'ये नहीं'। ऐसा सम्पूर्ण गुरु प्राप्त करने के लिये तो अधिकार चाहिये, वह मैं कहाँ से लाऊँ?

प्रकरण दूसरा

रायचंद भाई के साथ मेरी भेंट जौलाई सन् १८९१ में उस दिन हुई, जब मैं विलायत से बम्बई वापस आया। इन दिनों समुद्र में तूफान आया करता है, इस कारण जहाज रात को देरी से पहुंचा। मैं डाक्टर-बैरिस्टर-और अब रंगून के प्रख्यात झवेरी प्राणजीवनदास मेहता के घर उतरा था। रायचन्द भाई उनके बड़े भाई के जमाई होते थे। डाक्टर साहब ने ही परिचय कराया। उनके दूसरे बड़े भाई झवेरी रेवाशंकर जगजीवनदास की पहिचान भी उसी दिन हुई। डाक्टर साहब ने रायचन्द भाई का 'कवि' कहकर परिचय कराया और कहा—'कवि होते हुए भी आप हमारे साथ व्यापार में हैं, आप ज्ञानी और शतावधानी हैं'। किसी ने सूचना की कि मैं उन्हें कुछ शब्द सुनाऊँ, और वे शब्द चाहे किसी भी भाषा के हों, जिस क्रम से मैं बोलूँगा उसी क्रम से वे दुहरा जावेंगे। मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ। मैं तो उस समय जवान था और विलायत से लौटा था। मुझे भाषा-ज्ञान का भी अभिमान था। मुझे विलायत की हवा भी कुछ कम न लगी थी। उन दिनों विलायत से आया मानो आकाश से उतरा। मैंने अपना समस्त ज्ञान उलट दिया और अलग-अलग भाषाओं के शब्द पहले तो मैंने लिख लिये—क्योंकि मुझे वह क्रम कहाँ याद रहनेवाला था? और बाद में उन शब्दों को मैं बाँच गया। उसी क्रम से रायचन्द भाई ने धीरे-से

अन्य क्रिया करना हो तो उसमें भी पूर्ण एकाग्रता होनी ही चाहिये। अंतरंग में आत्मचिन्तन तो मुमुक्षु में उसके श्वास की तरह सतत चलना ही चाहिये। उससे वह एक क्षणभर भी वंचित नहीं रहता। परंतु इस तरह आत्मचिंतन करते हुए भी जो कुछ वह बाह्य कार्य करता हो वह उसमें ही तन्मय रहता है।

मैं यह नहीं कहना चाहता कि कवि ऐसा नहीं करते थे। ऊपर मैं कह चुका हूं कि अपने व्यापार में वे पूरी सावधानी रखते थे। ऐसा होने पर भी मेरे ऊपर ऐसी छाप जरूर पड़ी है कि कवि ने अपने शरीर से आवश्यकता से अधिक काम लिया है। यह योग की अपूर्णता तो नहीं हो सकती? यद्यपि कर्त्तव्य करते हुए शरीर तक भी समर्पण कर देना यह नीति है, परंतु शक्ति से अधिक बोझ उठाकर उसे कर्त्तव्य समझना यह राग है। ऐसा अत्यंत सूक्ष्म राग कवि में था, यह मुझे अनुभव हुआ है।

बहुत बार परमार्थ दृष्टि से मनुष्य शक्ति से अधिक काम लेता है और बाद में उसे पूरा करने में उसे कष्ट सहना पड़ता है। इसे हम गुण समझते हैं और इसकी प्रशंसा करते हैं। परंतु परमार्थ अर्थात् धर्मदृष्टि से देखने से इस तरह किये हुए काम में सूक्ष्म मूर्च्छा का होना बहुत संभव है।

यदि हम इस जगत में केवल निमित्त-मात्र ही हैं, यदि यह शरीर हमें भाड़े मिला है, और उस मार्ग से हमें तुरंत मोक्ष-साधन करना चाहिये, यही परम कर्त्तव्य है, तो इस मार्ग में जो विघ्न आते हों उनका त्याग अवश्य ही करना चाहिये; यही पारमार्थिक दृष्टि है दूसरी नहीं।

जो दलीलें मैंने ऊपर दी हैं, उन्हें ही किसी दूसरे प्रकार से रायचंद भाई अपनी चमत्कारिक भाषा में मुझे सुना गये थे। ऐसा होने पर भी उन्होंने ऐसी कैसी उपाधियाँ उठाईं कि जिसके फलस्वरूप उन्हें सख्त बीमारी भोगनी पड़ी?

रायचंद भाई को भी परोपकार के कारण मोह ने क्षण भर के लिये घेर लिया था, यदि मेरी यह मान्यता ठीक हो तो 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' यह श्लोकार्ध यहाँ ठीक बैठता है; और इसका अर्थ भी इतना ही है। कोई इच्छापूर्वक बर्ताव करने के लिए उपर्युक्त कृष्ण-वचन का उपयोग करते हैं, परंतु वह तो सर्वथा दुरुपयोग है। रायचंद भाई को प्रकृति बलात्कार गहरे पानी में ले गई। ऐसे कार्य को दोषरूप से भी लगभग सम्पूर्ण आत्माओं में ही माना जा सकता है। हम सामान्य मनुष्य तो परोपकारी कार्य के पीछे अवश्य पागल बन जाते हैं, तभी उसे कदाचित् पूरा कर पाते हैं। इस विषय को इतना ही लिख कर समाप्त करते हैं।

यह भी मान्यता देखी जाती है कि धार्मिक मनुष्य इतने भोले होते हैं कि उन्हें सब कोई ठग सकता है। उन्हें दुनिया की बातों की कुछ भी खबर नहीं पड़ती। यदि यह बात ठीक हो तो कृष्णचन्द्र और रामचन्द्र दोनों अवतारों को केवल संसारी मनुष्यों में ही गिनना चाहिये। कवि कहते थे कि जिसे शुद्ध ज्ञान है उसका ठगा जाना असंभव होना चाहिये। मनुष्य धार्मिक अर्थात् नीतिमान होने पर भी कदाचित ज्ञानी न हो, परन्तु मोक्ष के लिये नीति और अनुभव ज्ञान का सुसंगम होना चाहिये। जिसे अनुभव ज्ञान हो गया है, उसके पास

इसलिये अन्त में तो आत्मा को मोक्ष देनेवाली आत्मा ही है।

इस शुद्ध सत्य का निरूपण रायचंद भाई ने अनेक प्रकारों से अपने लेखों में किया ।
रायचंद भाई ने बहुत-सी धर्म पुस्तकों का अच्छा अभ्यास किया था। उन्हें संस्कृत औ
मागधी भाषा के समझने में ज़रा भी मुश्किल न पड़ती थी। उन्होंने वेदांत का अभ्यास कि
था, इसी प्रकार भागवत और गीताजी का भी उन्होंने अभ्यास किया था। जैन पुस्तकें
जितनी भी उनके हाथ में आतीं, वे बाँच जाते थे। उनके बाँचने और ग्रहण करने की शा
अगाध थी। पुस्तक का एक बार का बाँचन उन पुस्तकों के रहस्य जानने के लिये उन्हें का
था। कुरान, जंदअवेस्ता आदि पुस्तकें भी वे अनुवाद के ज़रिये पढ़ गये थे।

वे मुझसे कहते थे कि उनका पक्षपात जैन धर्म की ओर था। उनकी मान्यता
कि जिनागम में आत्मज्ञान की पराकाष्ठा है; मुझे उनका यह विचार बता देना आवश्यक है
इस विषय में अपना मत देने के लिये मैं अपने को बिलकुल अनधिकारी समझता हूँ।

परंतु रायचंद भाई का दूसरे धर्मों के प्रति अनादर न था, बल्कि वेदांत के प्र
पक्षपात भी था। वेदांती को तो कवि वेदांती ही मालूम पड़ते थे। मेरे साथ चर्चा कर
समय मुझे उन्होंने कभी भी यह नहीं कहा कि मुझे मोक्ष प्राप्ति के लिये किसी खास धर्म क
अवलंबन लेना चाहिये। मुझे अपना ही आचार-विचार पालने के लिये उन्होंने कहा। मुझे
कौनसी पुस्तकें बाँचनी चाहिये, यह प्रश्न उठने पर, उन्होंने मेरी वृत्ति और मेरे बचपन
संस्कार देखकर मुझे गीताजी बाँचने के लिये उत्तेजित किया और दूसरी पुस्तकों में पंची
करण, मणिरत्नमाला, योगवाशिष्ठ का वैराग्य प्रकरण, काव्यदोहन पहला भाग और अपन
मोक्षमाला बाँचने के लिये कहा।

रायचंद भाई बहुत बार कहा करते थे कि भिन्न-भिन्न धर्म तो एक तरह के बा
हैं, और उनमें मनुष्य घिर जाता है। जिसने मोक्षप्राप्ति ही पुरुषार्थ मान लिया है, उ
अपने माथे पर किसी भी धर्म का तिलक लगाने की आवश्यकता नहीं।

* सूतर आवे त्यम तुं रहे, ज्यम त्यम करिने हरिने लहे—

जैसे अखाका यह सूत्र था वैसे ही रायचंद भाई का भी था। धार्मिक झगड़ों से
हमेशा ऊबे रहते थे—उनमें वे शायद ही कभी पड़ते थे। वे समस्त धर्मों की खूबियाँ पू
तरह से देखते और उन्हें उन धर्मावलम्बियों के सामने रखते थे। दक्षिण आफ्रिका के पत्र
व्यवहार में भी मैंने यही वस्तु उनसे प्राप्त की।

मैं स्वयं तो यह माननेवाला हूँ कि समस्त धर्म उस धर्म के भक्तों की दृष्टि
सम्पूर्ण हैं, और दूसरों की दृष्टि से अपूर्ण हैं। स्वतंत्र-रूप से विचार करने से सब धर्म पूर्णा
पूर्ण हैं। अमुक हद के बाद सब शास्त्र बंधनरूप मालूम पड़ते हैं। परंतु यह तो गुणातीत क
अवस्था हुई। रायचंद भाई की दृष्टि से विचार करते हैं तो किसी को अपना धर्म छोड़ने
की आवश्यकता नहीं। सब अपने-अपने धर्म में रहकर अपनी स्वतंत्रता-मोक्ष प्राप्त कर सकते
हैं। क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने का अर्थ सर्वांश से राग द्वेष रहित होना ही है।

मोहनदास करमचंद गांधी

---

* जैसे सूत निकलता है वैसे ही तू रह। जैसे बने तैसे हरि को प्राप्त कर। —अनुवादक

श्रीमद् राजचंद्र.

वर्ष १९ वाँ.

वि. सं. १९४३.

३५ पग पगमें पाप है, देखनेमें जहर है, और सिरपर मरण खड़ा है; यह विचारकर आजके दिनमें प्रवेश कर।

३६ अघोर कर्म करनेमें आज तुझे पड़ना हो तो राजपुत्र हो, तो भी भिक्षाचरी मान्य कर आजके दिनमें प्रवेश करना।

३७ भाग्यशाली हो तो उसके आनंदमें दूसरोंको भाग्यशाली बनाना, परन्तु दुर्भाग्यशाली हो तो अन्यका बुरा करनेसे रुक कर आजके दिनमें प्रवेश करना।

३८ धर्माचार्य हो तो अपने अनाचारकी ओर कटाक्ष दृष्टि करके आजके दिनमें प्रवेश करना।

३९ अनुचर हो तो प्रियसे प्रिय शरीरके निभानेवाले अपने अधिराजकी नमकहलाली चाहकर आजके दिनमें प्रवेश करना।

४० दुराचारी हो तो अपनी आरोग्यता, भय, परतंत्रता, स्थिति और सुख इनको विचार कर आजके दिनमें प्रवेश करना।

४१ दुःखी हो तो आजीविका (आजकी) जितनी आशा रखकर आजके दिनमें प्रवेश करना।

४२ धर्मकरणीका अवश्य वक्त निकालकर आजकी व्यवहार-सिद्धिमें तू प्रवेश करना।

४३ कदाचित् प्रथम प्रवेशमें अनुकूलता न हो तो भी रोज जाते हुए दिनका स्वरूप विचार कर आज कभी भी उस पवित्र वस्तुका मनन करना।

४४ आहार, विहार, निहारके संबंधमें अपनी प्रक्रिया जाँच करके आजके दिनमें प्रवेश करना।

४५ तू कारीगर हो तो आलस्य और शक्तिके दुरुपयोगका विचार करके आजके दिनमें प्रवेश करना।

४६ तू चाहे जो धंधा करता हो, परन्तु आजीविकाके लिये अन्यायसंपन्न द्रव्यका उपार्जन नहीं करना।

४७ यह स्मरण किये बाद शौचक्रियायुक्त होकर भगवद्भक्तिमें लीन होकर क्षमा माँग।

४८ संसार-प्रयोजनमें यदि तू अपने हितके वास्ते किसी समुदायका अहित कर डालता हो तो अटकना।

४९ जुल्मीको, कामीको, अनाड़ीको उत्तेजन देते हो तो अटकना।

५० कमसे कम आधा पहर भी धर्म-कर्तव्य और विद्या-संपत्तिमें लगाना।

५१ जिन्दगी छोटी है और लंबी जंजाल है, इसलिये जंजालको छोटी कर, तो सुखरूपसे जिन्दगी लम्बी मालूम होगी।

५२ स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, लक्ष्मी इत्यादि सभी सुख तेरे घर हो तो भी इस सुखमें गौणतासे दुःख है ऐसा समझकर आजके दिनमें प्रवेश कर।

५३ पवित्रताका मूल सदाचार है।

५४ मनके दुरंगी हो जानेको रोकनेके लिये,—(अपूर्ण)

५५ वचनोंके शान्त मधुर, कोमल, सत्य और शौच बोलनेकी सामान्य प्रतिज्ञा लेकर आजके [illegible] करना।

५६ काया मलमूत्रका अस्तित्व है, इसलिये मैं यह क्या अयोग्य उपयोग करके आनन्द मानता [illegible] विचारना।

५७ तेरे हाथसे आज किसीकी आजीविका टूटती हो तो,—(अपूर्ण)

५८ आहार-क्रियामें अब तूने प्रवेश किया। मिताहारी अकबर सर्वोत्तम बादशाह गिन

५९ यदि आज दिनमें तेरा सोनेका मन हो तो उस समय ईश्वरभक्तिपरायण हो अथ शास्त्रका लाभ ले लेना।

६० मैं समझता हूँ कि ऐसा होना दुर्घट है तो भी अभ्यास सबका उपाय है।

६१ चला आता हुआ वैर आज निर्मूल किया जाय तो उत्तम, नहीं तो उसकी सावधानी

६२ इसी तरह नया वैर नहीं बढ़ाना, कारण कि वैर करके कितने कालका सुख भोग यह विचार तत्त्वज्ञानी करते हैं।

६३ महारंभी–हिंसायुक्त–व्यापारमें आज पड़ना पड़ता हो तो अटकना।

६४ बहुत लक्ष्मी मिलनेपर भी आज अन्यायसे किसीका जीव जाता हो तो अटकना।

६५ वक्त अमूल्य है, यह बात विचार कर आजके दिनकी २१६००० विपलोंका उपयोग

६६ वास्तविक सुख मात्र विरागमें है, इसलिये जंजाल-मोहिनीसे आज अभ्यंतर-मोहिनी नहीं

६७ अवकाशका दिन हो तो पहले कही हुई स्वतंत्रतानुसार चलना।

६८ किसी प्रकारका निष्पाप विनोद अथवा अन्य कोई निष्पाप साधन आजकी आनंद लिये ढूँढ़ना।

६९ सुयोजक कृत्य करनेमें प्रेरित होना हो तो विलंब करनेका आजका दिन नहीं, कि आज जैसा मंगलदायक दिन दूसरा नहीं।

७० अधिकारी हो तो भी प्रजा-हित भूलना नहीं। कारण कि जिसका (राजाका) व खाता है, वह भी प्रजाका सन्मानित नौकर है।

७१ व्यवहारिक-प्रयोजनमें भी उपयोगपूर्वक विवेकी रहनेकी सत्प्रतिज्ञा लेकर आजके दिनमें

७२ सायंकाल होनेके पीछे विशेष शान्ति लेना।

७३ आजके दिनमें इतनी वस्तुओंको बाधा न आवे, तभी वास्तविक विचक्षणता गि सकती है—१ आरोग्यता २ महत्ता ३ पवित्रता ४ फरज।

७४ यदि आज तुझसे कोई महान् काम होता हो तो अपने सर्व सुखका बलिदान कर दे

७५ करज नीच रज (क+रज) है, करज यमके हाथसे उत्पन्न हुई वस्तु है, (क कर यह राक्षसी राजाका जुल्मी कर वसूल करने वाला है। यह हो तो आज उतारना और नया करते हुए अटकना।

७६ दिनके कृत्यका हिसाब अब देख जाना।

७७ सुबह स्मृति कराई है, तो भी कुछ अयोग्य हुआ हो तो पश्चात्ताप कर और शिक्षा

७८ कोई परोपकार, दान, लाभ अथवा अन्यका हित करके आया हो तो आनंद म निरभिमानी रह।

७९ जाने अजाने भी विपरीत हुआ हो तो अब उससे अटकना।

८० व्यवहारके नियम रखना और अवकाशमें संसारकी निवृत्ति खोज करना।

८१ आज जिस प्रकार उत्तम दिन भोगा, वैसे अपनी जिन्दगी भोगनेके लिये तू आनंदित हो तो ही प० ।—(अपूर्ण)

८२ आज जिस पलमें तू मेरी कथा मनन करता है, उसीको अपनी आयुष्य समझकर सद्वृत्तिमें प्रेरित हो ।

८३ सत्पुरुष विदुरके कहे अनुसार आज ऐसा कृत्य करना कि रातमें सुखसे सो सके ।

८४ आजका दिन सुनहरी है, पवित्र है—कृतकृत्य होनेके योग्य है, यह सत्पुरुषोंने कहा है, इसलिये मान्य कर ।

८५ आजके दिनमें जैसे बने तैसे स्वपत्नीमें विषयासक्त भी कम रहना ।

८६ आत्मिक और शारीरिक शक्तिकी दिव्यताका वह मूल है, यह ज्ञानियोंका अनुभवसिद्ध वचन है।

८७ तमाखू सूँघने जैसा छोटा व्यसन भी हो तो आज पूर्ण कर ।—(०) नया व्यसन करनेसे अटक ।

८८ देश, काल, मित्र इन सबका विचार सब मनुष्योंको इस प्रभातमें स्वशक्ति समान करना उचित है ।

८९ आज कितने सत्पुरुषोंका समागम हुआ, आज वास्तविक आनंदस्वरूप क्या हुआ ? यह चितवन विरले पुरुष करते हैं ।

९० आज तू चाहे जैसे भयंकर परन्तु उत्तम कृत्यमें तत्पर हो तो नाहिम्मत नहीं होना ।

९१ शुद्ध, सच्चिदानन्द, करुणामय परमेश्वरकी भक्ति यह आजके तेरे सत्कृत्यका जीवन है ।

९२ तेरा, तेरे कुटुम्बका, मित्रका, पुत्रका, पत्नीका, माता पिताका, गुरुका, विद्वान्का, सत्पुरुषका यथाशक्ति हित, सन्मान, विनय और लाभका कर्तव्य हुआ हो तो आजके दिनकी वह सुगंध है।

९३ जिसके घर यह दिन क्लेश बिना, स्वच्छतासे, शौचतासे, ऐक्यसे, संतोषसे, सौम्यतासे, स्नेहसे, सभ्यतासे और सुखसे बीतेगा उसके घर पवित्रताका वास है।

९४ कुशल और आज्ञाकारी पुत्र, आज्ञावलम्बी धर्मयुक्त अनुचर, सद्गुणी सुन्दरी, मेलवाला कुटुम्ब, सत्पुरुषके तुल्य अपनी दशा, जिस पुरुषकी होगी उसका आजका दिन हम सबको वंदनीय है ।

९५ इन सब लक्षणोंसे युक्त होनेके लिये जो पुरुष विचक्षणतासे प्रयत्न करता है, उसका दिन हमको माननीय है ।

९६ इससे उलटा वर्तन जहाँ मच रहा है, वह घर हमारी कटाक्ष दृष्टिकी रेखा है ।

९७ भले ही अपनी आजीविका जितना तू प्राप्त करता हो परन्तु निरुपाधिमय हो तो उपाधिमय राज्य-सुख चाहकर अपने आजके दिनको अपवित्र नहीं करना ।

९८ [illegible] तुझे कडुआ वचन कहा हो [illegible] उस समय सहनशीलता—निरुपयोगी भी, (अपूर्ण)

९९ [illegible]

१०० [illegible] न हो वह [illegible] रखना ।

१०१ [illegible] रहना ।

१०२ सरलता धर्मका बीजस्वरूप है। प्रज्ञासे सरलता सेवन की हो तो आजका दिन सर्वो

१०३ बहन, राजपत्नी हो अथवा दीनजनपत्नी हो, परन्तु मुझे उसकी कोई दरक
मर्यादासे चलनेवालीकी मैं तो क्या किन्तु पवित्र ज्ञानियोंने भी प्रशंसा की है।

१०४ सद्गुणसे जो तुम्हारे ऊपर जगत्का प्रशस्त मोह होगा तो हे बहन, तुम्हें मैं वंदन

१०५ बहुमान, नम्रभाव, विशुद्ध अंतःकरणसे परमात्माके गुणोंका चिंतवन-श्रव
कीर्तन, पूजा-अर्चा इनकी ज्ञानी पुरुषोंने प्रशंसा की है, इसलिये आजका दिन शोभित करन

१०६ सत्शीलवान सुखी है। दुराचारी दुखी है। यह बात यदि मान्य न हो तो
लक्ष रखकर इस बातको विचार कर देखो।

१०७ इन सबोंका सहज उपाय आज कह देता हूँ कि दोषको पहचान कर दोषको दूर

१०८ लम्बी, छोटी अथवा क्रमानुक्रम किसी भी स्वरूपसे यह मेरी कही हुई पवित्रता
गूँथी हुई माला प्रभातके वक्तमें, सायंकालमें अथवा अन्य अनुकूल निवृत्तिमें विचारनेसे
होगी। विशेष क्या कहूँ !

२

काल किसीको नहीं छोड़ता

जिनके गलेमें मोतियोंकी मूल्यवान मालायें शोभती थीं, जिनकी कंठ-कांति हीरेके ह
अत्यन्त दैदीप्यमान थी, जो आभूषणोंसे शोभित होते थे, वे भी मरणको देखकर भाग गये।
जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ १ ॥

जो मणिमय मुकुट सिरपर धारण करके कानोंमें कुण्डल पहनते थे, और जो हाथों
कड़े पहनकर शरीरको सजानेमें किसी भी प्रकारकी कमी नहीं रखते थे, ऐसे पृथ्वीपति भी अ
खोकर पल भरमें भूतलपर गिरे। हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छो

जो दसों उँगलियोंमें माणिक्यजडित मांगलिक मुद्रा पहनते थे, जो बहुत शौकके सा

काळ कोईने नहि मूके
हरिगीत.

मोती तणी माळा गळामां मूल्यवंती मलकती,
हीरा तणा शुभ हारथी बहु कंठकांति झळकती;
आभूषणोथी ओपता भाग्या मरणने जोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ १ ॥
मणिमय मुगट माथे धरीने कर्ण कुंडळ नाखता,
कांचन कडां करमां धरी कशीए कचाश न राखता,
पळमां पड्या पृथ्वीपति ए भान भूतळ खोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ २ ॥
दश आंगळीमां मांगळिक मुद्रा जडित माणिक्यथी,
जे परम प्रेमे पे'रता पोंची कळा बारीकथी,

नरसींवाली पोंची धारण करते थे, वे भी मुद्रा आदि सब कुछ छोड़कर मुँह धोकर चल दिये, हे मनुष्यो; जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ ३ ॥

जो मूँछें बांकीकर अलबेला बनकर मूँछोंपर नींबू रखते थे, जिनके कटे हुए सुन्दर केश हर किसीके मनको हरते थे, वे भी संकटमें पड़कर सबको छोड़कर चले गये, हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ ४ ॥

जो अपने प्रतापसे छहों खंडका अधिराज बना हुआ था, और ब्रह्माण्डमें बलवान होकर बड़ा भारी राजा कहलाता था, ऐसा चतुर चक्रवर्ती भी यहाँसे इस तरह गया कि मानों उसका कोई अस्तित्व ही नहीं था, हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ ५ ॥

जो राजनीतिनिपुणतामें न्यायवाले थे, जिनके उलटे डाले हुए पासे भी सदा सीधे ही पड़ते थे, ऐसे भाग्यशाली पुरुष भी सब खटपटें छोड़कर भाग गये। हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ ६ ॥

जो तलवार चलानेमें बहादुर थे, अपनी टेकपर मरनेवाले थे, सब प्रकारसे परिपूर्ण थे, जो हाथसे हाथीको मारकर केसरीके समान दिखाई देते थे, ऐसे सुभटवीर भी अंतमें रोते ही रह गये। हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ ७ ॥

ए वेढ वींटी सर्व छोडी चालिया मुख धोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ३ ॥

मुछ वांकडी करी फांकडा थई लींबु धरता ते परे,
कापेल राखी कातरा हरकोईनां हैयां हरे;
ए सांकडीमां आविया छटक्या तजी सहु सोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ४ ॥

छो खंडना अधिराज जे चंडे करीने नीपज्या,
ब्रह्मांडमां बळवान थईने भूप भारे ऊपज्या;
ए चतुर चक्री चालिया होता नहोता होईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ५ ॥

जे राजनीतिनिपुणतामा न्यायवंता नीवड्या,
अवळा कर्ये जेना बधा सवळा सदा पासा पड्या;
ए भाग्यशाळी भागिया ते खटपटो सौ खोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ६ ॥

तरवार बहादुर टेक धारी पूर्णतामां पेखिया,
हाथी हण्या हाथे करी ए केसरी सम देखिया
एवा भला भडवीर ते अंते रहेला रोईने
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ७ ॥

३

धर्मविषयक

जिसप्रकार दिनकरके बिना दिन, शशिके बिना शर्वरी, प्रजापतिके बिना पुरकी प्रजा, सुरसके बिना कविता, सलिलके बिना सरिता, भर्ताके बिना भामिनी सारहीन दिखाई देते हैं, उसी तरह, रायचन्द्र वीर कहते हैं, कि सद्धर्मको धारण किये बिना मनुष्य महान् कुकर्मी कहा जाता है ॥ १ ॥

धर्म बिना धन, धाम और धान्यको धूलके समान समझो, धर्म बिना धरणीमें मनुष्य तिरस्कारको प्राप्त होता है, धर्म बिना धीमंतोंकी धारणायें धोखा खाती हैं, धर्म बिना धारण किया हुआ धैर्य धुँवेके समान धुँधाता है, धर्म बिना राजा लोग ठगाये जाते हैं (!), धर्म बिना ध्यानीका ध्यान ढोंग समझा जाता है, इसलिये सुधर्मकी धवल धुरंधरताको धारण करो धारण करो, प्रत्येक धाम धर्मसे धन्य धन्य माना जाता है ॥२॥

प्रेमपूर्वक अपने हाथसे मोह और मानके दूर करनेको, दुर्जनताके नाश करनेको और जालके फन्दको तोड़नेको; सकल सिद्धांतकी सहायतासे कुमतिके काटनेको, सुमतिके स्थापित करनेको और ममत्वके मापनेको; भली प्रकारसे महामोक्षके भोगनेको, जगदीशके जाननेको, और अजन्मताके प्राप्त करनेको; तथा अलौकिक, अनुपम सुखका अनुभव करनेको यथार्थ अध्यवसायसे धर्मको धारण करो ॥ ३ ॥

धर्म विषे.

कवित.

दिनकर विना जेवो, दिननो देखाव दीसे,
शशि विना जेवी रीते, शर्वरी सुहाय छे;
प्रजापति विना जेवी, प्रजा पुरतणी पेखो,
सुरस विनानी जेवी, कविता कहाय छे;
सलिल विहीन जेवी, सरितानी शोभा अने,
भर्तार विहीन जेवी, भामिनी भळाय छे;
वदे रायचंद वीर, सद्धर्मने धार्या विना,
मानवी महान तेम, कुकर्मी कळाय छे ॥ १ ॥
धर्म विना धन धाम, धान्य धूळधाणी धारो,
धर्म विना धरणीमां, धिक्कता धराय छे;
धर्म विना धीमंतनी, धारणाओ धोखो धरे,
धर्म विना धार्युं धैर्य, धूम्र थै धमाय छे;
धर्म विना धराधर, धुतारा, न धामधूमे,
धर्म विना ध्यानी ध्यान, ढोंग ढंग धाय छे;
धारो धारो धवळ, सुधर्मनी धुरंधरता,
धन्य धन्य धाम धाम, धर्मथी धराय छे ॥ २ ॥
मोह मान मोडवाने, फेलपणुं फोडवाने,
जाळफंद तोडवाने, हेते निज हाथथी,
कुमतिने कापवाने, सुमतिने स्थापवाने,
ममत्वने मापवाने, सकळ सिद्धांतथी,
महा मोक्ष माणवाने, जगदीश जाणवाने,
अजन्मता आणवाने, वळी भली भातथी
अलौकिक अनुपम, सुख अनुभववाने,
धर्म धारणाने धारो, खरेखरी खांतथी ॥ ३ ॥

धर्मके बिना प्रीति नहीं, धर्मके बिना रीति नहीं, धर्मके बिना हित नहीं, यह मैं हितकी बात कहता हूँ; धर्मके बिना टेक नहीं, धर्मके बिना प्रामाणिकता नहीं, धर्मके बिना ऐक्य नहीं, धर्म रामका धाम है; धर्मके बिना ध्यान नहीं, धर्मके बिना ज्ञान नहीं, धर्मके बिना सच्चा भान नहीं, इसके बिना जीना किस कामका है ? धर्मके बिना तान नहीं, धर्मके बिना प्रतिष्ठा नहीं, और धर्मके बिना किसी भी वचनका गुणगान नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

सुख देनेवाली सम्पत्ति हो, मानका मद हो, क्षेम क्षेमके उद्गारोंसे बधाई मिलती हो, यह सब किसी कामका नहीं; जवानीका जोर हो, ऐशका उत्साह हो, दौलतका दौर हो, यह सब केवल नामका सुख है; वनिताका विलास हो, प्रौढ़ताका प्रकाश हो, दक्षके समान दास हों, धामका सुख हो, परन्तु रायचन्द्र कहते हैं कि सद्धर्मको बिना धारण किये यह सब सुख दो ही कौड़ीका समझना चाहिये ॥५॥

जिसे चतुर लोग प्रीतिसे चाहकर चित्तमें चिन्तामणि रत्न मानते हैं, जिसे प्रेमसे पंडित लोग पारसमणि मानते हैं, जिसे कवि लोग कल्याणकारी कल्पतरु कहते हैं, जिसे साधु लोग शुभ क्षेमसे सुधाका सागर मानते हैं, ऐसे धर्मको, यदि उमंगसे आत्माका उद्धार चाहते हो, तो निर्मल होनेके लिये नीति नियमसे नमन करो। रायचन्द्र वीर कहते हैं कि इस प्रकार धर्मका रूप जानकर धर्मवृत्तिमें ध्यान रक्खो और वहमसे लक्ष्यच्युत न होओ ॥ ६ ॥

धर्म विना प्रीत नहीं, धर्म विना रीत नहीं,
धर्म विना हित नहीं, कथुं जन कामनुं;
धर्म विना टेक नहीं, धर्म विना नेक नहीं,
धर्म विना ऐक्य नहीं, धर्म धाम रामनुं;
धर्म विना ध्यान नहीं, धर्म विना ज्ञान नहीं,
धर्म विना भान नहीं, जीव्युं कोना कामनुं ?
धर्म विना तान नहीं, धर्म विना सान नहीं,
धर्म विना गान नहीं, वचन तमामनुं ॥ ४ ॥

साह्यबी सुखद होय, मानतणो मद होय,
खमा खमा खुद होय, ते ते कशा कामनुं;
जुवानीनुं जोर होय, एशनो अंकोर होय,
दोलतनो दोर होय, ए ते सुख नामनुं;
वनिता विलास होय, प्रौढ़ता प्रकाश होय,
दक्ष जेवा दास होय, होय सुख धामनुं;
वदे रायचंद एम, सद्धर्मने धार्या विना,
जाणी लेजे सुख एतो, बेएज बदामनुं ! ॥ ५ ॥

चातुरो चोंपेथी चाही चिंतामणी चित्त गणे,
पंडितो प्रमाणे छे पारसमणी प्रेमथी;
कवियो कल्याणकारी कल्पतरु कथे जेने,
सुधानो सागर कथे, साधु शुभ क्षेमथी.
आत्मना उद्धारने उमंगथी अनुसरो जो,
निर्मळ थवाने काजे, नमो नीति नेमथी.
वदे रायचंद वीर, एवुं धर्मरूप जाणी,
धर्मवृत्ति ध्यान धरो, विलखो न वेमथी " ॥ ६ ॥

ॐ

श्रीमोक्षमाला

"जिसने आत्मा जान ली उसने सब कुछ जान लिया"

(निर्ग्रंथप्रवचन)

१ वाचकको अनुरोध

वाचक! यह पुस्तक आज तुम्हारे हस्त-कमलमें आती है। इसे ध्यानपूर्वक बाँचना; इसमें क
: विषयोंको विवेकसे विचारना, और परमार्थको हृदयमें धारण करना। ऐसा करोगे तो तुम नीति
वेक, ध्यान, ज्ञान, सद्गुण और आत्म-शांति पा सकोगे।

तुम जानते होगे कि बहुतसे अज्ञान मनुष्य न पढ़ने योग्य पुस्तकें पढ़कर अपना अमूल्य सम
य खो देते हैं। इससे वे कुमार्ग पर चढ़ जाते हैं, इस लोकमें अपकीर्ति पाते हैं, और परलोकमें
:च गतिमें जाते हैं।

भाषा-ज्ञानकी पुस्तकोंकी तरह यह पुस्तक पठन करनेकी नहीं, परन्तु मनन करनेकी है। इसमे इ
न और परभव दोनोंमें तुम्हारा हित होगा। भगवान्‌के कहे हुए वचनोंका इसमें उपदेश किया गया है

तुम इस पुस्तकका विनय और विवेकसे उपयोग करना। विनय और विवेक ये धर्मके मूल हेतु हैं

तुमसे दूसरा एक यह भी अनुरोध है कि जिनको पढ़ना न आता हो, और उनकी इच्छा हो
तो यह पुस्तक अनुक्रमसे उन्हें पढ़कर सुनाना।

तुम्हें इस पुस्तकमें जो कुछ समझमें न आवे, उसे सुविचक्षण पुरुषोंसे समझ लेना योग्य है

तुम्हारी आत्माका इससे हित हो; तुम्हें ज्ञान, शांति और आनन्द मिले; तुम परोपकारी, दयाऌ
क्षमावान, विवेकी और बुद्धिशाली बनो; अर्हत् भगवान्‌से यह शुभ याचना करके यह पाठ पूर्ण करता हूँ

२ सर्वमान्य धर्म

जो धर्मका तत्त्व मुझसे पूछा है, उसे तुझे स्नेहपूर्वक सुनाता हूँ। यह धर्म-तत्त्व सकल सिद्धांत
सार है, सर्वमान्य है, और सबको हितकारी है ॥ १ ॥

भगवान्‌ने भाषणमें कहा है कि दयाके समान दूसरा धर्म नहीं है। दोषोंको नष्ट करनेके लि
अभयदानके साथ प्राणियोंको संतोष प्रदान करो ॥ २ ॥

धर्मतत्त्व जो पूछ्युं मने तो संभळावुं स्नेहे तने,
जे सिद्धांत सकळनो सार सर्वमान्य सहुने हितकार ॥ १ ॥
भाख्युं भाषणमां भगवान, धर्म न बीजो दया समान,
अभयदान साथे संतोष द्यो प्राणीने दळवा दोष ॥ २ ॥

सत्य, शील और सब प्रकारके दान, दयाके होनेपर ही प्रमाण माने जाते हैं। जिसप्रकार सूर्यके बिना किरणें दिखाई नहीं देतीं, उसी प्रकार दयाके न होनेपर सत्य, शील और दानमेंसे एक भी गुण नहीं रहता ॥ ३ ॥

जहाँ पुष्पकी एक पँखडीको भी क्लेश होता है, वहाँ प्रवृत्ति करनेकी जिनवरकी आज्ञा नहीं। सब जीवोंके सुखकी इच्छा करना, यही महावीरकी मुख्य शिक्षा है ॥ ४ ॥

यह उपदेश सब दर्शनोंमें है। यह एकांत है, इसका कोई अपवाद नहीं है। सब प्रकारसे जिनभगवानका यही उपदेश है कि विरोध रहित दया ही निर्मल दया है ॥ ५ ॥

यह संसारसे पार करनेवाला सुंदर मार्ग है, इसे उत्साहसे धारण करके संसारको पार करना चाहिये। यह सकल धर्मका शुभ मूल है, इसके बिना धर्म सदा प्रतिकूल रहता है ॥ ६ ॥

जो मनुष्य इसे तत्त्वरूपसे पहचानते हैं, वे शाश्वत सुखको प्राप्त करते हैं। राजचन्द्र कहते हैं कि शान्तिनाथ भगवान् करुणासे सिद्ध हुए हैं, यह प्रसिद्ध है ॥ ७ ॥

३ कर्मका चमत्कार

मैं तुम्हें बहुतसी सामान्य विचित्रतायें कहता हूँ। इनपर विचार करोगे तो तुमको परभवकी श्रद्धा दृढ़ होगी।

एक जीव सुंदर पलंगपर पुष्पशय्यामें शयन करता है और एकको फटीहुई गूदड़ी भी नहीं मिलती। एक भाँति भाँतिके भोजनोंसे तृप्त रहता है और एकको काली ज्वारके भी लाले पड़ते हैं। एक अगणित लक्ष्मीका उपभोग करता है और एक फूटी बादामके लिये घर घर भटकता फिरता है। एक मधुर वचनोंसे मनुष्यका मन हरता है और एक अवाचक जैसा होकर रहता है। एक सुंदर वस्त्रालंकारसे विभूषित होकर फिरता है और एकको प्रखर शीतकालमें फटा हुआ कपड़ा भी ओढ़नेको नहीं मिलता। कोई रोगी है और कोई प्रबल है। कोई बुद्धिशाली है और कोई जड़ है। कोई मनोहर नयनवाला है और कोई अंधा है। कोई लूला-लँगड़ा है और किसीके हाथ और पैर रमणीय हैं। कोई कीर्तिमान है और कोई अपयश भोगता है। कोई लाखों अनुचरोंपर हुक्म चलाता है और कोई लाखोंके ताने सहन करता है। किसीको देखकर आनंद होता है और किसीको देखकर वमन होता है। कोई सम्पूर्ण इन्द्रियोंवाला है और कोई अपूर्ण इन्द्रियोंवाला है। किसीको दीन-दुनियाका लेश भी भान नहीं और किसीके दुःखका पार भी नहीं।

सत्य शीयळ ने सघळां दान, दया होइने रह्यां प्रमाण;
दया नहीं तो ए नहीं एक, विना सूर्य किरण नहीं देख ॥ ३ ॥
पुष्पपांखडी ज्यां दूभाय, जिनवरनी त्यां नहीं आज्ञाय;
सर्व जीवनुं इच्छो सुख, महावीरनी शिक्षा मुख्य ॥ ४ ॥
सर्व दर्शने ए उपदेश, ए एकांते नहीं विशेष;
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

कोई गर्भाधानमें आते ही मरणको प्राप्त हो जाता है। कोई जन्म लेते ही तुरत मर जाता है। कोई मरा हुआ पैदा होता है और कोई सौ वर्षका वृद्ध होकर मरता है।

किसीका मुख, माया और स्थिति एकसी नहीं। मूर्ख राज्यगद्दीपर क्षेम क्षेमके उद्गारोंसे बधाई दिया जाता है और समर्थ विद्वान् धक्का खाते हैं।

इस प्रकार समस्त जगत्‌की विचित्रता भिन्न भिन्न प्रकारसे तुम देखते हो। क्या इसके ऊपरसे तुम्हें कोई विचार आता है? मैंने जो कहा है यदि उसके ऊपरसे तुम्हें विचार आता हो, तो कहो कि यह विचित्रता किस कारणसे होती है?

अपने बाँधे हुए शुभाशुभ कर्मसे। कर्मसे समस्त संसारमें भ्रमण करना पड़ता है। परभव नहीं माननेवाले स्वयं इन विचारोंको किस कारणसे करते हैं, इसपर यथार्थ विचार करें, तो वे भी इस सिद्धांतको मान्य रक्खें।

४ मानवदेह

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, विद्वान् इस मानवदेहको दूसरी सब देहोंसे उत्तम कहते हैं। उत्तम कहनेके कुछ कारणोंको हम यहाँ कहेंगे।

यह संसार बहुत दुःखसे भरा हुआ है। इसमेंसे ज्ञानी तैरकर पार पानेका प्रयत्न करते हैं। मोक्षको साधकर वे अनंत सुखमें विराजमान होते हैं। यह मोक्ष दूसरी किसी देहसे नहीं मिलती। देव, तिर्यंच और नरक इनमेंसे किसी भी गतिसे मोक्ष नहीं; केवल मानवदेहसे ही मोक्ष है।

अब तुम कहोगे, कि सब मानवियोंको मोक्ष क्यों नहीं होता? उसका उत्तर यह है कि जो मानवपना समझते हैं, वे संसार-शोकसे पार हो जाते हैं। जिनमें विवेक-बुद्धि उदय हुई हो, और उससे सत्यासत्यके निर्णयको समझकर, जो परम तत्त्व-ज्ञान तथा उत्तम चारित्ररूप सद्धर्मका सेवन करके अनुपम मोक्षको पाते हैं, उनके देहधारीपनेको विद्वान् मानवपना कहते हैं। मनुष्यके शरीरकी बनावटके ऊपरसे विद्वान् उसे मनुष्य नहीं कहते, परन्तु उसके विवेकके कारण उसे मनुष्य कहते हैं। जिसके दो हाथ, दो पैर, दो आँख, दो कान, एक मुख, दो होठ, और एक नाक हों उसे मनुष्य कहना, ऐसा हमें नहीं समझना चाहिये। यदि ऐसा समझें, तो फिर बंदरको भी मनुष्य गिनना चाहिये। उसने भी इस तरह हाथ, पैर आदि सब कुछ प्राप्त किया है। विशेषरूपसे उसके एक पूँछ भी है, तो क्या उसको महामनुष्य कहना चाहिये? नहीं, नहीं। जो मानवपना समझता है वही मानव कहला सकता है।

ज्ञानी लोग कहते हैं, कि यह भव बहुत दुर्लभ है, अति पुण्यके प्रभावसे यह देह मिलती है, इस लिये इससे शीघ्रतासे आत्मसिद्धि कर लेना चाहिये। अयमंतकुमार, गजसुकुमार जैसे छोटे बालकोंने भी मानवपनेको समझनेसे मोक्ष प्राप्त की। मनुष्यमें जो विशेष शक्ति है, उस शक्तिसे वह मदोन्मत्त हाथी जैसे प्राणीको भी वशमें कर लेता है। इस शक्तिसे यदि वह अपने मनरूपी हाथीको वश कर ले, तो कितना कल्याण हो!

किसी भी अन्य देहमें पूर्ण सद्विवेकका उदय नहीं होता, और मोक्षके राज-मार्गमें प्रवेश नहीं हो सकता। इस लिये हमें मिले हुए इस बहुत दुर्लभ मानवदेहको सफल कर लेना आवश्यक है।

बहुतसे मूर्ख दुराचारसे, अज्ञानसे, विषयसे और अनेक प्रकारके मदसे इस मानव-देहको वृथा गुमाते हैं, अमूल्य कौस्तुभको खो बैठते हैं। ये नामके मानव गिने जा सकते हैं, बाकीके तो वानररूप ही हैं।

मौतकी पलको, निश्चयसे हम नहीं जान सकते। इस लिये जैसे बने वैसे धर्ममें त्वरासे सावधान होना चाहिये।

५ अनाथी मुनि

(१)

अनेक प्रकारकी ऋद्धिवाला मगध देशका श्रेणिक नामक राजा अश्वक्रीडाके लिये मंडिकुक्ष नामके वनमें निकल पड़ा। वनकी विचित्रता मनोहारिणी थी। वहाँ नाना प्रकारके वृक्ष खड़े थे, नाना प्रकारकी कोमल वेलें घटाटोप फैली हुई थीं। नाना प्रकारके पक्षी आनंदसे उनका सेवन कर रहे थे, नाना प्रकारके पक्षियोंके मधुर गान वहाँ सुनाई पड़ते थे, नाना प्रकारके फूलोंसे वह वन छाया हुआ था, नाना प्रकारके जलके झरने वहाँ बहते थे। संक्षेपमें, यह वन नंदनवन जैसा लगता था। इस वनमें एक वृक्षके नीचे महासमाधिवंत किन्तु सुकुमार और सुखोचित मुनिको उस श्रेणिकने बैठे हुए देखा। इसका रूप देखकर उस राजाको अत्यन्त आनन्द हुआ। उसके उपमारहित रूपसे विस्मित होकर वह मन ही मन उसकी प्रशंसा करने लगा। इस मुनिका कैसा अद्भुत वर्ण है! इसका कैसा मनोहर रूप है! इसकी कैसी अद्भुत सौम्यता है! यह कैसी विस्मयकारक क्षमाका धारक है! इसके अंगसे वैराग्यका कैसा उत्तम प्रकाश निकल रहा है! इसकी निर्लोभता कैसी दीखती है! यह संयति कैसी निर्भय नम्रता धारण किये हुए है! यह भोगसे कैसा विरक्त है! इस प्रकार चिंतवन करते करते, आनन्दित होते होते, स्तुति करते करते, धीरे धीरे चलते हुए, प्रदक्षिणा देकर उस मुनिको वंदन कर न अति समीप और न अति दूर वह श्रेणिक बैठा। बादमें दोनों हाथोंको जोड़ कर विनयसे उसने उस मुनिसे पूछा, "हे आर्य! आप प्रशंसा करने योग्य तरुण हैं। भोगविलासके लिये आपकी वय अनुकूल है। संसारमें नाना प्रकारके सुख हैं। ऋतु ऋतुके कामभोग, जल संबंधी विलास, तथा मनोहारिणी स्त्रियोंके मुख-वचनके मधुर श्रवण होनेपर भी इन सबका त्याग करके मुनित्वमें आप महाउद्यम कर रहे हैं, इसका क्या कारण है, यह मुझे अनुग्रह करके कहिये।" राजाके ऐसे वचन सुनकर मुनिने कहा—"हे राजन्! मैं अनाथ था। मुझे अपूर्व वस्तुका प्राप्त करानेवाला, योग-क्षेमका करनेवाला, मुझपर अनुकंपा लानेवाला, करुणासे परमसुखको देनेवाला कोई मेरा मित्र नहीं हुआ। यह कारण मेरे अनाथीपनेका था।"

६ अनाथी मुनि

(२)

श्रेणिक मुनिके भाषणसे स्मित हास्य करके बोला, "आप महाऋद्धिवंतका नाथ क्यों न होगा! यदि कोई आपका नाथ नहीं है तो मैं होता हूँ। हे भयत्राण! आप भोगोंको भोगें। हे संयति! मित्र, ज्ञातिसे दुर्लभ इस अपने मनुष्य भवको सफल करें।" अनाथीने कहा—"अरे श्रेणिक राजा! परन्तु तू तो स्वयं अनाथ है, तो मेरा नाथ क्या होगा! निर्धन धनाढ्य कहाँसे बना सकता है! अबुध बुद्धि-दान कहाँसे कर सकता है! अज्ञ विद्वत्ता कहाँसे दे सकता है! वंध्या संतान कहाँसे

दे सकती है ? जब तू स्वयं अनाथ है तो मेरा नाथ कैसे होगा ? " मुनिके वचनसे राजा अति आकुल और अति विस्मित हुआ। जिस वचनका कभी भी श्रवण नहीं हुआ था, उस वचनके यतिके मुखसे श्रवण होनेसे वह शंकित हुआ और बोला—" मैं अनेक प्रकारके अश्वोंका भोगी हूँ; अनेक प्रकारके मदोन्मत्त हाथियोंका स्वामी हूँ; अनेक प्रकारकी सेना मेरे आधीन है; नगर, ग्राम, अंतःपुर और चतुष्पादकी मेरे कोई न्यूनता नहीं है; मनुष्य संबंधी सब प्रकारके भोग मैंने प्राप्त किये हैं; अनुचर मेरी आज्ञाको भली भांति पालते हैं। इस प्रकार राजाके योग्य सब प्रकारकी संपत्ति मेरे घर है और अनेक मनवांछित वस्तुयें मेरे समीप रहती हैं। इस तरह महान् होनेपर भी मैं अनाथ क्यों हूँ ! कहीं हे भगवन् ! आप मृषा न बोलते हो।" मुनिने कहा, "राजन् ! मेरे कहनेको तू न्यायपूर्वक नहीं समझा। अब मैं जैसे अनाथ हुआ, और जैसे मैंने संसारका त्याग किया वह तुझे कहता हूँ। उसे एकाग्र और सावधान चित्तसे सुन। सुननेके बाद तू अपनी शंकाके सत्यासत्यका निर्णय करना:—

" कौशांबी नामकी अति प्राचीन और विविध प्रकारकी भव्यतासे भरपूर एक सुंदर नगरी है। वहाँ ऋद्धिसे परिपूर्ण धन संचय नामका मेरा पिता रहता था। हे महाराज ! यौवनके प्रथम भागमें मेरी आँखे अति वेदनासे घिर गईं और समस्त शरीरमें अग्नि जलने लगी। शस्त्रसे भी अतिशय तीक्ष्ण यह रोग वैरीकी तरह मेरे ऊपर कोपायमान हुआ। मेरा मस्तक इस आँखकी असह्य वेदनासे दुखने लगा। वज्रके प्रहार जैसी, दूसरोंको भी रौद्र भय उपजानेवाली इस दारुण वेदनासे मैं अत्यंत शोकमें था। वैद्यक-शास्त्रमें निपुण बहुतसे वैद्यराज मेरी इस वेदनाको दूर करनेके लिये आये, और उन्होंने अनेक औषध-उपचार किये, परन्तु सब वृथा गये। ये महानिपुण गिने जानेवाले वैद्यराज मुझे उस रोगसे मुक्त न कर सके। हे राजन् ! यही मेरा अनाथपना था। मेरी आँखकी वेदनाको दूर करनेके लिये मेरे पिता सब धन देने लगे, परन्तु उससे भी मेरी वह वेदना दूर नहीं हुई। हे राजन् ! यही मेरा अनाथपना था। मेरी माता पुत्रके शोकसे अति दुःखार्त थी, परन्तु वह भी मुझे रोगसे न छुड़ा सकी। हे राजन् ! यही मेरा अनाथपना था। एक पेटसे जन्मे हुए मेरे ज्येष्ठ और कनिष्ठ भाईयोंने अपनेसे बनता परिश्रम किया परन्तु मेरी वह वेदना दूर न हुई। हे राजन् ! यही मेरा अनाथपना था। एक पेटमें जन्मी हुई मेरी ज्येष्ठा और कनिष्ठा भगिनियोंसे भी मेरा यह दुःख दूर नहीं हुआ। हे महाराज ! यही मेरा अनाथपना था। मेरी स्त्री जो पतिव्रता, मेरे ऊपर अनुरक्त और प्रेमवंती थी वह अपने आँसुओंसे मेरे हृदयको द्रवित करती थी, उसके अन्न पानी देनेपर भी और नाना-प्रकारके उबटन, चुवा आदि सुगंधित पदार्थ, तथा अनेक प्रकारके फूल चंदन आदिके जाने अजाने विलेपन किये जानेपर भी, मैं उस विलेपनसे अपने रोगको शान्त नहीं कर सका। क्षणभर भी अलग न रहनेवाली स्त्री भी मेरे रोगको नहीं दूर कर सकी। हे महाराज ! यही मेरा अनाथपना था। इस तरह किसीके प्रेमसे, किसीकी औषधिसे, किसीके विलापसे और किसीके परिश्रमसे यह रोग शान्त न हुआ। इस समय पुनः पुनः मैं असह्य वेदना भोग रहा था। बादमें मुझे प्रपंची संसारसे खेद हुआ। एक बार यदि इस महा विडम्बनामय वेदनासे मुक्त हो जाऊँ, तो खंती, दंती और निरारंभी प्रव्रज्याको धारण करूँ, ऐसा विचार करके मैं सो गया। जब रात व्यतीत हुई, उस समय हे महाराज ! मेरी वह

वेदना क्षय हो गई, और मैं निरोग हो गया। माता, पिता, स्वजन, बांधव आदिको पूछकर प्रभातमें मैंने महाक्षमावंत इन्द्रियोंका निग्रह करनेवाले, और आरंभोपाधिसे रहित अनगारपनेको धारण किया।

७ अनाथी मुनि

(२)

हे श्रेणिक राजा! तबसे मैं आत्मा-परात्माका नाथ हुआ। अब मैं सब प्रकारके जीवोंका नाथ हूँ। तुझे जो शंका हुई थी वह अब दूर हो गई होगी। इस प्रकार समस्त जगत्—चक्रवर्ती पर्यंत—अशरण और अनाथ है। जहाँ उपाधि है वहाँ अनाथता है। इस लिये जो मैं कहता हूँ उस कथनका तू मनन करना। निश्चय मानो कि अपनी आत्मा ही दुःखकी भरी हुई वैतरणीका कर्ता है; अपना आत्मा ही क्रूर शाल्मलि वृक्षके दुःखका उपजाने वाला है; अपना आत्मा ही वांछित वस्तुरूपी दूधको देनेवाला कामधेनु-सुखका उपजानेवाला है; अपना आत्मा ही नंदनवनके समान आनंदकारी है; अपना आत्मा ही कर्मका करनेवाला है; अपना आत्मा ही उस कर्मका टालनेवाला है; अपना आत्मा ही दुःखोपार्जन और अपना आत्मा ही और सुखोपार्जन करनेवाला है; अपना आत्मा ही मित्र, और अपना आत्मा ही वैरी है; अपना आत्मा ही कनिष्ठ आचारमें स्थित, और अपना आत्मा ही निर्मल आचारमें स्थित रहता है।

इस प्रकार श्रेणिकको उस अनाथी मुनिने आत्माके प्रकाश करनेवाले उपदेशको दिया। श्रेणिक राजाको बहुत संतोष हुआ। वह दोनों हाथोंको जोड़ कर इस प्रकार बोला—"हे भगवन्! आपने मुझे भली भाँति उपदेश किया, आपने यथार्थ अनाथपना कह बताया। महर्षि! आप सनाथ, आप सबांधव और आप सधर्म हैं। आप सब अनाथोंके नाथ हैं। हे पवित्र संयति! मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। आपकी ज्ञानपूर्ण शिक्षासे मुझे लाभ हुआ है। हे महाभाग्यवन्त! धर्मध्यानमें विघ्न करनेवाले भोगोंके भोगनेका मैंने आपको जो आमंत्रण दिया, इस अपने अपराधकी मस्तक नमाकर मैं क्षमा माँगता हूँ।" इस प्रकारसे स्तुति करके राजपुरुषकेसरी श्रेणिक विनयसे प्रदक्षिणा करके अपने स्थानको गया।

महातपोधन, महामुनि, महाप्रज्ञावंत, महायशवंत, महानिर्ग्रंथ और महाश्रुत अनाथी मुनिने मगध देशके श्रेणिक राजाको अपने बीते हुए चरित्रसे जो उपदेश दिया है, वह सचमुच अशरण भावना सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीसे भोगी हुई वेदनाके समान अथवा इससे भी अत्यन्त विशेष वेदनाको अनंत आत्माओंको भोगते हुए हम देखते हैं, यह कैसा विचारणीय है! संसारमें अशरणता और अनंत अनाथता छाई हुई है। उसका त्याग उत्तम तत्त्वज्ञान और परम शीलके सेवन करनेसे ही होता है। यही मुक्तिका कारण है। जैसे संसारमें रहता हुआ अनाथी अनाथ था उसी तरह प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके बिना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिये सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुको जानना और पहचानना आवश्यक है।

८ सद्देवतत्त्व

तीन तत्त्वोंको हमें अवश्य जानना चाहिये। जब तक इन तत्त्वोंके संबंधमें अज्ञानता रहती है तब तक आत्माका हित नहीं होता। ये तीन तत्त्व सद्देव, सद्धर्म, और सद्गुरु हैं। इस पाठमें — —

चक्रवर्ती राजाधिराज अथवा राजपुत्र होनेपर भी जो संसारको एकांत अनंत शोकका कारण
कर उसका त्याग करते हैं; जो पूर्ण दया, शांति, क्षमा, वीतरागता और आत्म-समृद्धिसे त्रिविध तापका
करते हैं; जो महा उग्र तप और ध्यानके द्वारा आत्म-विशोधन करके कर्मोंके समूहको जला डालते हैं;
हैं चंद्र और शंखसे भी अत्यंत उज्ज्वल शुक्लध्यान प्राप्त होता है; जो सब प्रकारकी निद्राका क्षय
ते हैं; जो संसारमें मुख्य गिने जानेवाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन
कर्मोंको भस्मीभूत करके केवलज्ञान और केवलदर्शन सहित अपने स्वरूपसे विहार करते हैं; जो
अघाति कर्मोंके रहने तक यथाख्यातचारित्ररूप उत्तम शीलका सेवन करते हैं; जो कर्म-ग्रीष्मसे
लाये हुए पामर प्राणियोंको परमशांति प्राप्त करानेके लिये शुद्ध सारभूत तत्त्वका निष्कारण करुणासे
धारा-वाणीसे उपदेश करते हैं; जिनके किसी भी समय किंचित् मात्र भी संसारी वैभव विलासका
ांश भी बाकी नहीं रहा; जो घनघाति कर्म क्षय करनेके पहले अपनी छद्मस्थता जानकर श्रीमुख-
णीसे उपदेश नहीं करते; जो पाँच प्रकारका अंतराय, हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, शोक,
थ्यात्व, अज्ञान, अप्रत्याख्यान, राग, द्वेष, निद्रा, और काम इन अठारह दूषणोंसे रहित हैं;
सच्चिदानन्द स्वरूपसे विराजमान हैं; जिनके महाउद्योतकर बारह गुण प्रगट होते हैं; जिनके जन्म,
ग और अनंत संसार नष्ट हो गया है; उनको निर्ग्रंथ आगममें सद्देव कहा है। इन दोषोंसे रहित
द्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त करनेके कारण वे पूजनीय परमेश्वर कहे जाने योग्य हैं। ऊपर कहे हुए
ारह दोषोंमेंसे यदि एक भी दोष हो तो सद्देवका स्वरूप नहीं घटता। इस परमतत्त्वको महान् पुरुषोंसे
शेषरूपसे जानना आवश्यक है।

९ सद्धर्मतत्त्व

अनादि कालसे कर्म-जालके बंधनसे यह आत्मा संसारमें भटका करता है। क्षण मात्र भी उसे सच्चा
सुख नहीं मिलता। यह अधोगतिका सेवन किया करता है। अधोगतिमें पड़ती हुई आत्माको रोककर
सद्गतिको देता है उसका नाम धर्म कहा जाता है, और यही सत्य सुखका उपाय है। इस धर्म तत्त्वके
र्वज्ञ भगवान्ने भिन्न भिन्न भेद कहे हैं। उनमें मुख्य भेद दो हैं:—व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म।

व्यवहारधर्ममें दया मुख्य है। सत्य आदि बाकीके चार महाव्रत भी दयाकी रक्षाके लिये हैं।
याके आठ भेद हैं:—द्रव्यदया, भावदया, स्वदया, परदया, स्वरूपदया, अनुबंधदया, व्यवहारदया,
निश्चयदया।

प्रथम द्रव्यदया—प्रत्येक कामको यत्नपूर्वक जीवोंकी रक्षा करके करना 'द्रव्यदया' है।

दूसरी भावदया—दूसरे जीवको दुर्गतिमें जाते देखकर अनुकंपा बुद्धिसे उपदेश देना 'भावदया' है।

तीसरी स्वदया—यह आत्मा अनादि कालसे मिथ्यात्वसे ग्रसित है, तत्त्वको नहीं पाता,
जिनाज्ञाको नहीं पाल सकता, इस प्रकार चिंतवन कर धर्ममें प्रवेश करना 'स्वदया' है।

चौथी परदया—छह कायके जीवोंकी रक्षा करना 'परदया' है।

पाँचवी स्वरूपदया—सूक्ष्म विवेकसे स्वरूप विचार करना 'स्वरूपदया' है।

छठी अनुबंधदया—सद्गुरु अथवा सुशिक्षकका शिष्यको कड़वे वचनोंसे उपदेश देना, यद्यपि यह
देखनेमें अयोग्य लगता है, परन्तु परिणाममें करुणाका कारण है—इसका नाम 'अनुबंधदया' है।

सातवीं व्यवहारदया—उपयोगपूर्वक और विधिपूर्वक दया पालनेका नाम 'व्यवहारदया' है।

आठवीं निश्चयदया—शुद्ध साध्य उपयोगमें एकता भाव और अभेद उपयोगका होना 'निश्चयदया' है।

इस आठ प्रकारकी दयाको लेकर भगवान्‌ने व्यवहारधर्म कहा है। इसमें सब जीवोंके सुख, संतोष और अभयदान ये सब विचारपूर्वक देखनेसे आ जाते हैं।

दूसरा निश्चयधर्म—अपने स्वरूपकी भ्रमणा दूर करनी, आत्माको आत्मभावसे पहचानना, 'यह संसार मेरा नहीं, मैं इससे भिन्न, परम असंग, सिद्ध सदृश शुद्ध आत्मा हूँ' इस तरह आत्म-स्वभावमें प्रवृत्ति करना 'निश्चयधर्म' है।

जहाँ किसी प्राणीको दुःख, अहित अथवा असंतोष होता है, वहाँ दया नहीं; और जहाँ दया नहीं वहाँ धर्म नहीं। अर्हंत भगवान्‌के कहे हुए धर्मतत्त्वसे सब प्राणी भय रहित होते हैं।

१० सद्गुरुतत्त्व

(१)

पिता—पुत्र! तू जिस शालामें पढ़ने जाता है उस शालाका शिक्षक कौन है?

पुत्र—पिताजी! एक विद्वान् और समझदार ब्राह्मण है।

पिता—उसकी वाणी, चालचलन आदि कैसे हैं?

पुत्र—उसकी वाणी बहुत मधुर है। वह किसीको अविवेकसे नहीं बुलाता, और बहुत गंभीर है, जिस समय वह बोलता है, उस समय मानों उसके मुखसे फूल झरते हैं। वह किसीका अपमान नहीं करता; और जिससे हम योग्य नीतिको समझ सकें, ऐसी हमें शिक्षा देता है।

पिता—तू वहाँ किस कारणसे जाता है, सो मुझे कह।

पुत्र—आप ऐसा क्यों कहते हैं, पिताजी! मैं संसारमें विचक्षण होनेके लिये पद्धतियोंको समझूँ और व्यवहारनीतिको सीखूँ, इसलिये आप मुझे वहाँ भेजते हैं।

पिता—तेरा शिक्षक यदि दुराचारी अथवा ऐसा ही होता तो?

पुत्र—तब तो बहुत बुरा होता। हमें अविवेक और कुवचन बोलना आता। व्यवहारनीति तो फिर सिखलाता ही कौन?

पिता—देख पुत्र! इसके ऊपरसे मैं अब तुझे एक उत्तम शिक्षा कहता हूँ। जैसे संसारमें पड़नेके लिये व्यवहारनीति सीखनेकी आवश्यकता है, वैसे ही परभवके लिये धर्मतत्त्व और धर्मनीतिमें प्रवेश करनेकी आवश्यकता है। जैसे यह व्यवहारनीति सदाचारी शिक्षकसे उत्तम प्रकारसे मिल सकती है, वैसे ही परभवमें श्रेयस्कर धर्मनीति उत्तम गुरुसे ही मिल सकती है। व्यवहारनीतिके शिक्षक और धर्मनीतिके शिक्षकमें बहुत भेद है। बिल्लौरके टुकड़ेके समान व्यवहार-शिक्षक है, और अमूल्य कौस्तुभके समान आत्मधर्म-शिक्षक है।

पुत्र—सिरछत्र! आपका कहना योग्य है। धर्मके शिक्षककी सम्पूर्ण आवश्यकता है। आपने बार बार संसारके अनंत दुःखोंके संबंधमें मुझसे कहा है। संसारसे पार पानेके लिये धर्म ही सहायभूत है। इसलिये धर्म कैसे गुरुसे प्राप्त करनेसे श्रेयस्कर हो सकता है, यह मुझसे कृपा करके कहिये।

सत्य—शुद्ध, सच्चिदानन्दस्वरूप, जीवन-सिद्ध भगवान्, तथा सर्वदूषण रहित, कर्ममलहीन, मुक्त, वीतराग, सकलभयसे रहित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जिनेश्वर भगवान्की भक्तिसे आत्मशक्ति प्रकट होती है।

जिज्ञासु—क्या यह मानना ठीक है कि इनकी भक्ति करनेसे हमें ये मोक्ष देते हैं?

सत्य—भाई जिज्ञासु! वे अनंत ज्ञानी भगवान् तो वीतरागी और निर्विकार हैं। उन्हें हमें स्तुति-निन्दाका कुछ भी फल देनेका प्रयोजन नहीं। हमारी आत्मा अज्ञानी और मोहान्ध होकर जिस कर्म-दलसे घिरी हुई है, उस कर्म-दलको दूर करनेके लिये अनुपम पुरुषार्थकी आवश्यकता है। सब कर्म-दलको क्षयकर अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतचारित्र, अनंतवीर्य और स्वस्वरूपमय हुए जिनेश्वरका स्वरूप आत्माकी निश्चयनयसे ऋद्धि होनेसे उस भगवान्का स्मरण, चिंतवन, ध्यान, और भक्ति यह पुरुषार्थ प्रदान करता है; विकारसे आत्माको विरक्त करता है, तथा शांति और निर्जरा देता है। जैसे तलवार हाथमें लेनेसे शौर्यवृत्ति और भाँग पीनेसे नशा उत्पन्न होता है, वैसे ही इनके गुणोंका चिंतवन करनेसे आत्मा स्वस्वरूपानंदकी श्रेणी चढ़ता जाता है। दर्पण देखनेसे जैसे मुखकी आकृतिका भान होता है, वैसे ही सिद्ध अथवा जिनेश्वरके स्वरूपके चिंतवनरूप दर्पणसे आत्म-स्वरूपका भान होता है।

१४ जिनेश्वरकी भक्ति

(२)

जिज्ञासु—आर्य सत्य! सिद्धस्वरूपको प्राप्त जिनेश्वर तो सभी पूज्य हैं, तो फिर नामसे भक्ति करनेकी क्या आवश्यकता है?

सत्य—हाँ, अवश्य है। अनंत सिद्धस्वरूपका ध्यान करते हुए शुद्धस्वरूपका विचार होना यह कार्य है। परन्तु उन्होंने जिसके द्वारा उस स्वरूपको प्राप्त किया वह कारण कौनसा है, इसका विचार करनेपर उनके उग्रतप, महान् वैराग्य, अनंत दया और महान् ध्यान इन सबका स्मरण होता है, तथा अपने अर्हत् तीर्थंकर-पदमें वे जिस नामसे विहार करते थे, उस नामसे उनके पवित्र आचार और पवित्र चरित्रका अंतःकरणमें उदय होता है। यह उदय परिणाममें महा लाभदायक है। उदाहरणके लिये, महावीरका पवित्र नाम स्मरण करनेसे वे कौन थे, कब हुए, उन्होंने किस प्रकारसे सिद्धि पायी इत्यादि चरित्रोंकी स्मृति होती है। इससे हमारे वैराग्य, विवेक इत्यादिका उदय होता है।

जिज्ञासु—परन्तु 'लोगस्स' में तो चौबीस जिनेश्वरके नामोंका सूचन किया है, इसका क्या हेतु है, यह मुझे समझाइये।

सत्य—इसका यही हेतु है, कि इस कालमें इस क्षेत्रमें होनेवाले चौबीस जिनेश्वरोंके नामोंके और उनके चरित्रोंके स्मरण करनेसे शुद्ध तत्त्वका लाभ होता है। वीतरागीका चरित्र वैराग्यका उपदेश करता है। अनंत चौबीसीके अनंतनाम सिद्धस्वरूपमें समग्र आ जाते हैं। वर्तमान कालके चौबीस तीर्थंकरोंके नाम इस कालमें लेनेसे कालकी स्थितिका बहुत सूक्ष्म ज्ञान भी स्मृतिमें आता है। जैसे इनके नाम इस कालमें लिये जाते हैं, वैसे ही चौबीसी चौबीसीके नाम काल और चौबीसी बदलनेपर लिये जाते हैं, इसलिये अमुक नाम लेनेमें कोई हेतु नहीं है। परन्तु उनके गुणोंके पुरुषार्थकी स्मृतिके लिये वर्तमान चौबीसीकी स्मृति करना यह तत्त्व है। उनका जन्म, विहार, उपदेश यह सब नाम निक्षेपसे जाना जा सकता है। इससे

हमारी आत्मा प्रकाश पाती है। सर्प जैसे बांसरीके शब्दसे जागृत होता है, वैसे ही आत्मा अपनी सत्य ऋद्धि सुननेसे मोह-निद्रासे जागृत होती है।

जिज्ञासु—मुझे आपने जिनेश्वरकी भक्ति करनेके संबंधमें बहुत उत्तम कारण बताया। जिनेश्वरकी भक्ति कुछ फलदायक नहीं, आधुनिक शिक्षासे मेरी जो यह आस्था हो गई थी, वह नाश हो गई। जिनेश्वर भगवान्‌की भक्ति अवश्य करना चाहिये, यह मैं मान्य रखता हूँ।

सत्य—जिनेश्वर भगवान्‌की भक्तिसे अनुपम लाभ है। इसके महान् कारण हैं। उनके परम उपकारके कारण भी उनकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये। तथा उनके पुरुषार्थका स्मरण होनेसे भी शुभ वृत्तियोंका उदय होता है। जैसे जैसे श्रीजिनके स्वरूपमें वृत्ति लय होती है, वैसे वैसे परम शांति प्रवाहित होती है। इस प्रकार जिनभक्तिके कारणोंको यहाँ संक्षेपमें कहा है, उन्हें आत्मार्थियोंको विशेषरूपसे मनन करना चाहिये।

१५ भक्तिका उपदेश

जिसकी शुभ शीतलतामय छाया है, जिसमें मनवांछित फलोंकी पंक्ति लगी है, ऐसी कल्पवृक्ष-रूपी जिनभक्तिका आश्रय लो, और भगवान्‌की भक्ति करके भवके अंतको प्राप्त करो॥ १॥

इससे आनन्दमय अपना आत्मस्वरूप प्रगट होता है, और मनका समस्त संताप मिट जाता है, तथा बिना दामोंके ही कर्मोंकी अत्यन्त निर्जरा होती है, इसलिये भगवान्‌की भक्ति करके भवके अंतको प्राप्त करो॥ २॥

इससे सदा समभावी परिणामोंकी प्राप्ति होगी, अत्यंत जड़ और अधोगतिमें लेजानेवाले जन्मका नाश होगा, तथा यह शुभ मंगलमय है, इसकी पूर्णरूपसे इच्छा करो, और भगवान्‌की भक्ति करके भवके अंतको प्राप्त करो॥ ३॥

शुभ भावोंके द्वारा मनको शुद्ध करो, नवकार महामंत्रका स्मरण करो, इसके समान और दूसरी कोई वस्तु नहीं है, इसलिये भगवान्‌की भक्ति करके भवके अंतको प्राप्त करो॥ ४॥

इससे सम्पूर्णरूपसे राग-कथाका क्षय करोगे, और यथार्थ रूपसे शुभतत्त्वोंको धारण करोगे। राजचन्द्र कहते हैं कि भगवद्भक्तिसे अनंत प्रपंचको दहन करो, और भगवान्‌की भक्तिसे भवके अंतको प्राप्त करो॥ ५॥

भक्तिनो उपदेश

तोटक छंद

शुभ शीतळतामय छांय रही, मनवांछित ज्यां फळपंक्ति कही;
जिनभक्ति ग्रहो तरुकल्प अहो, भजीने भगवंत भवंत लहो॥ १॥
निज आत्मस्वरूप मुदा प्रगटे, मन ताप उताप तमाम मटे;
अति निर्जरता वणदाम ग्रहो, भजीने भगवंत भवंत लहो॥ २॥
समभावि सदा परिणाम थशे, जड मंद अधोगति जन्म जशे;
शुभ मंगळ आ परिपूर्ण चहो, भजीने भगवंत भवंत लहो॥ ३॥
शुभ भाव वडे मन शुद्ध करो, नवकार महापदने समरो;
नहि एह समान सुमंत्र कहो, भजीने भगवंत भवंत लहो॥ ४॥
करशो क्षय केवळ राग कथा, धरशो शुभ तत्त्वस्वरूप यथा;
नृपचंद्र प्रपंच अनंत दहो, भजीने भगवंत भवंत लहो॥ ५॥

१६ वास्तविक महत्ता

बहुतसे लोग लक्ष्मीसे महत्ता मानते हैं, बहुतसे महान् कुटुम्बसे महत्ता मानते हैं, बहुतसे पुत्रसे महत्ता मानते हैं, तथा बहुतसे अधिकारसे महत्ता मानते हैं। परन्तु यह उनका मानना विवेकसे विचार करनेपर मिथ्या सिद्ध होता है। ये लोग जिसमें महत्ता ठहराते हैं उसमें महत्ता नहीं, परन्तु लघुता है। लक्ष्मीसे संसारमें खान, पान, मान, अनुचरोंपर आज्ञा और वैभव ये सब मिलते हैं, और यह महत्ता है, ऐसा तुम मानते होगे। परन्तु इतनेसे इसकी महत्ता नहीं माननी चाहिये। लक्ष्मी अनेक पापोंसे पैदा होती है। यह आनेपर पीछे अभिमान, बेहोशी, और मूढ़ता पैदा करती है। कुटुम्ब-समुदायकी महत्ता पानेके लिये उसका पालन-पोषण करना पड़ता है। उससे पाप और दुःख सहन करना पड़ता है। हमें उपाधिसे पाप करके इसका उदर भरना पड़ता है। पुत्रसे कोई शाश्वत नाम नहीं रहता। इसके लिये भी अनेक प्रकारके पाप और उपाधि सहनी पड़ती हैं। तो भी इससे अपना क्या मंगल होता है? अधिकारसे परतंत्रता और अमलमद आता है, और इससे जुल्म, अनीति, रिश्वत और अन्याय करने पड़ते हैं, अथवा होते हैं। फिर कहो इसमें क्या महत्ता है? केवल पापजन्य कर्मकी। पापी कर्मसे आत्माकी नीच गति होती है। जहाँ नीच गति है वहाँ महत्ता नहीं, परन्तु लघुता है।

आत्माकी महत्ता तो सत्य वचन, दया, क्षमा, परोपकार, और समतामें है। लक्ष्मी इत्यादि तो कर्म-महत्ता है। ऐसा होनेपर भी चतुर पुरुष लक्ष्मीका दान देते हैं, उत्तम विद्याशालायें स्थापित करके परदुःख-भंजन करते हैं। एक विवाहित स्त्रीमें ही सम्पूर्ण वृत्तिको रोककर परस्त्रीकी तरफ पुत्री-भावसे देखते हैं। कुटुम्बके द्वारा किसी समुदायका हित करते हैं। पुत्र होनेसे उसको संसारका भार देकर स्वयं धर्म प्रवेश-मार्गमें करते हैं। अधिकारके द्वारा विचक्षणतासे आचरण कर राजा और प्रजा दोनोंका हित करके धर्मनीतिका प्रकाश करते हैं। ऐसा करनेसे बहुतसी महत्तायें प्राप्त होती हैं सही, तो भी ये महत्तायें निश्चित नहीं हैं। मरणका भय सिरपर खड़ा है, और धारणायें धरी रह जाती हैं। संसारका कुछ मोह ही ऐसा है कि जिसमें किये हुए संकल्प अथवा विवेक हृदयमेंसे निकल जाते हैं। इससे हमें यह निःसंशय समझना चाहिये, कि सत्यवचन, दया, क्षमा, ब्रह्मचर्य और समता जैसी आत्ममहत्ता और कहींपर भी नहीं है। शुद्ध पाँच महाव्रतधारी भिक्षुकने जो ऋद्धि और महत्ता प्राप्त की है, वह ब्रह्मदत्त जैसे चक्रवर्तीने भी लक्ष्मी, कुटुम्ब, पुत्र अथवा अधिकारसे नहीं प्राप्त की, ऐसी मेरी मान्यता है।

१७ बाहुबल

बाहुबल अर्थात् "अपनी भुजाका बल"—यह अर्थ यहाँ नहीं करना चाहिये। क्योंकि बाहुबल नामके महापुरुषका यह एक छोटासा अद्भुत चरित्र है।

सर्वसंगका परित्याग करके भगवान् ऋषभदेवजी भरत और बाहुबल नामके अपने दो पुत्रोंको राज्य सौंपकर विहार करते थे। उस समय भरतेश्वर चक्रवर्ती हुए। आयुधशालामें चक्रकी उत्पत्ति होनेके पश्चात् प्रत्येक राज्यपर उन्होंने अपनी आम्नाय स्थापित की, और छह खंडकी प्रभुता प्राप्त की। अकेले बाहुबलने ही इस प्रभुताको स्वीकार नहीं की। इससे परिणाममें भरतेश्वर और बाहुबलमें युद्ध हुआ। बहुत समयतक भरतेश्वर और बाहुबल इन दोनोंमेंसे एक भी नहीं हटा। तब क्रोधावेशमें आकर भरतेश्वरने बाहुबलपर चक्र छोड़ा। एक वीर्यसे उत्पन्न हुए भाईपर चक्र प्रभाव नहीं कर सकता।

देवगति—परस्पर वैर, ईर्ष्या, क्लेश, शोक, मत्सर, काम, मद, क्षुधा, आदिसे देवलोग भी आयु व्यतीत कर रहे हैं। यह देवगति है।

इस प्रकार चारों गतियोंका स्वरूप सामान्य रूपसे कहा। इन चारों गतियोंमें मनुष्यगति सबसे श्रेष्ठ और दुर्लभ है, आत्माका परमहित—मोक्ष इस गतिसे प्राप्त होता है। इस मनुष्यगतिमें भी बहुतसे दुःख और आत्मकल्याण करनेमें अंतराय आते हैं।

एक तरुण सुकुमारको रोमरोममें अत्यंत तप्त लाल सूए चुभानेसे जो असह्य वेदना होती है उससे आठगुनी वेदना जीव गर्भस्थानमें रहते हुए प्राप्त करता है। यह जीव लगभग नव महीना मल, मूत्र, खून, पीप आदिमें दिनरात मूर्च्छागत स्थितिमें वेदना भोग भोगकर जन्म पाता है। गर्भस्थानकी वेदनासे अनंतगुनी वेदना जन्मके समय होती है। तत्पश्चात् बाल्यावस्था प्राप्त होती है। यह अवस्था मल मूत्र, धूल और नग्नावस्थामें अनसमझीसे रो भटककर पूर्ण होती है। इसके बाद युवावस्था आती है। इस समय धन उपार्जन करनेके लिये नाना प्रकारके पापोंमें पड़ना पड़ता है। जहाँसे उत्पन्न हुआ है, वहींपर अर्थात् विषय-विकारमें वृत्ति जाती है। उन्माद, आलस्य, अभिमान, निंद्य-दृष्टि, संयोग, वियोग, इस प्रकार घटमालमें युवा वय चली जाती है। फिर वृद्धावस्था आ जाती है। शरीर काँपने लगता है, मुखसे लार बहने लगती है, त्वचापर सिकुड़न पड़ जाती है; सूँघने, सुनने, और देखनेकी शक्तियाँ बिलकुल मंद पड़ जाती हैं; केश धवल होकर खिरने लगते हैं; चलनेकी शक्ति नहीं रहती; हाथमें लकड़ी लेकर लड़खड़ाते हुए चलना पड़ता है; अथवा जीवन पर्यंत खाटपर ही पड़ा रहना पड़ता है; श्वास, खाँसी, इत्यादि रोग आकर घेर लेते हैं; और थोड़े कालमें काल आकर कवलित कर जाता है। इस देहमेंसे जीव चल निकलता है। कायाका होना न होनेके समान हो जाता है। मरण समयमें भी कितनी अधिक वेदना होती है! चारों गतियोंमें श्रेष्ठ मनुष्य देहमें भी कितने अधिक दुःख भरे हुए हैं। ऐसा होते हुए भी ऊपर कहे अनुसार काल अनुक्रमसे आता हो यह बात भी नहीं। वह चाहे जब आकर ले जाता है। इसीलिये विचक्षण पुरुष प्रमादके बिना आत्मकल्याणकी आराधना करते हैं।

१९ संसारकी चार उपमायें

(१)

संसारको तत्त्वज्ञानी एक महासमुद्रकी भी उपमा देते हैं। संसार रूपी समुद्र अनंत और अपार है। अहो प्राणियों! इससे पार होनेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो! इस प्रकार उनके अनेक स्थानोंपर वचन हैं। संसारको समुद्रकी उपमा उचित भी है। समुद्रमें जैसे लहरें उठा करती हैं, वैसे ही संसारमें विषयरूपी अनेक लहरें उठती हैं। जैसे जल ऊपरसे सपाट दिखाई देता है, वैसे ही संसार भी सरल दीख पड़ता है। जैसे समुद्र कहीं बहुत गहरा है, और कहीं भँवरोंमें डाल देता है, वैसे ही संसार काम विषय प्रपंच आदिमें बहुत गहरा है और वह मोहरूपी भँवरोंमें डाल देता है। जैसे थोड़ा जल रहते हुए भी समुद्रमें खड़े रहनेसे कीचड़में फँस जाते हैं, वैसे ही संसारके लेशभर प्रसंगमें भी यह तृष्णारूपी कीचड़में फँसा देता है। जैसे समुद्र नाना प्रकारकी चट्टानों और तूफानोंसे नाव अथवा जहाजको जोखम पहुँचाता है, वैसे ही संसार स्त्रीरूपी चट्टान और कामरूपी तूफानसे आत्माको जोखम पहुँचाता है। जैसे समुद्रका अगाध जल शीतल दिखाई देनेपर भी उसमें बड़वानल अग्नि वास करती है, वैसे ही संसारमें माया-

रूपी अग्नि जला ही करती है। जैसे समुद्र चौमासेमें अधिक जल पाकर गहरा उतर जाता है, वैसे ही संसार पापरूपी जल पाकर गहरा हो जाता है, अर्थात् वह मजबूत जड़ जमाता जाता है।

२ संसारको दूसरी उपमा अग्निकी लागू होती है। जैसे अग्निसे महातापकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही संसारसे भी त्रिविध तापकी उत्पत्ति होती है। जैसे अग्निसे जला हुआ जीव महा बिलबिलाहट करता है, वैसे ही संसारसे जला हुआ जीव अनंत दुःखरूप नरकसे असह्य बिलबिलाहट करता है। जैसे अग्नि सब वस्तुओंको भक्षण कर जाती है, वैसे ही अपने मुखमें पड़े हुएको संसार भक्षण कर जाता है। जिस प्रकार अग्निमें ज्यों ज्यों घी और ईंधन होमे जाते हैं, त्यों त्यों वह वृद्धि पाती है; उसी प्रकार संसाररूप अग्निमें तीव्र मोहरूप घी और विषयरूप ईंधनके होम करनेसे वह वृद्धि पाती है।

३ संसारको तीसरी उपमा अंधकारकी लागू होती है। जैसे अंधकारमें रस्सी सर्पका भान कराती है, वैसे ही संसार सत्यको असत्यरूप बताता है। जैसे अंधकारमें प्राणी इधर उधर भटककर विपत्ति भोगते हैं, वैसे ही संसारमें बेसुध होकर अनंत आत्मायें चतुर्गतिमें इधर उधर भटकती फिरती हैं। जैसे अंधकारमें कांच और हीरेका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही संसाररूपी अंधकारमें विवेक और अविवेकका ज्ञान नहीं होता। जैसे अंधकारमें प्राणी आँखोंके होनेपर भी अंधे बन जाते हैं, वैसे ही शक्तिके होनेपर भी संसारमें प्राणी मोहांध बन जाते हैं। जैसे अंधकारमें उल्लू आदिका उपद्रव बढ़ जाता है, वैसे ही संसारमें लोभ, माया आदिका उपद्रव बढ़ जाता है। इस तरह अनेक प्रकारसे देखनेपर संसार अंधकार-रूप ही मालूम होता है।

२० संसारकी चार उपमायें

(२)

४ संसारको चौथी उपमा शकट-चक्र अर्थात् गाड़ीके पहियेकी लागू होती है। जैसे चलता हुआ शकट-चक्र फिरता रहता है, वैसे ही प्रवेश होनेपर संसार फिरता रहता है। जैसे शकट-चक्र धुरेके बिना नहीं चल सकता, वैसे ही संसार मिथ्यात्वरूपी धुरेके बिना नहीं चल सकता। जैसे शकट-चक्र आरोंसे टिका रहता है, वैसे ही संसार-शकट प्रमाद आदि आरोंसे टिका हुआ है। इस तरह अनेक प्रकारसे शकट-चक्रकी उपमा भी संसारको दी जा सकती है।

इसप्रकार संसारको जितनी अधो उपमायें दी जा सकें उतनी ही थोड़ी हैं। मुख्य रूपसे ये चार उपमायें हमने जान लीं, अब इनमेंसे हमें तत्त्व लेना योग्य है:—

१ जैसे सागर मजबूत नाव और जानकार नाविकसे तैरकर पार किया जाता है, वैसे ही सद्धर्मरूपी नाव और सद्गुरुरूपी नाविकसे संसार-सागर पार किया जा सकता है। जैसे सागरमें विचक्षण पुरुषोंने निर्विघ्न रास्तेको ढूँढ़कर निकाला है, वैसे ही जिनेश्वर भगवान्‌ने तत्त्वज्ञानरूप निर्विघ्न उत्तम रास्ता बताया है।

२ जैसे अग्नि सबको भक्षण कर जाती है, परन्तु पानीसे बुझ जाती है, वैसे ही वैराग्य-जलसे संसार-अग्नि बुझ सकती है।

३ जैसे अंधकारमें दीपक ले जानेसे प्रकाश होनेसे हम पदार्थोंको देख सकते हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञानरूपी न बुझनेवाला दीपक संसाररूपी अंधकारमें प्रकाश करके सत्य वस्तुको बताता है।

४ जैसे शकट-चक्र बैलके बिना नहीं चल सकता, वैसे ही संसार-चक्र राग और द्वेषके बिना नहीं चल सकता।

इस प्रकार इस संसार-रोगके निवारणके प्रतीकारको उपमाद्वारा अनुपान आदिके साथ कहा है। इसे आत्महितैषियोंको निरंतर मनन करना और दूसरोंको उपदेश देना चाहिये।

२१ बारह भावना

वैराग्य और ऐसे ही अन्य आत्म-हितैषी विषयोंकी सुदृढ़ता होनेके लिये तत्त्वज्ञानियोंने बारह भावनाओंका चिंतवन करनेके लिये कहा है।

१ शरीर, वैभव, लक्ष्मी, कुटुंब, परिवार आदि सब विनाशी हैं। जीवका मूलधर्म अविनाशी है, ऐसे चिंतवन करना पहली 'अनित्यभावना' है।

२ संसारमें मरणके समय जीवको शरण रखनेवाला कोई नहीं, केवल एक शुभ धर्मकी शरण ही सत्य है, ऐसा चिंतवन करना दूसरी 'अशरणभावना' है।

३ "इस आत्माने संसार-समुद्रमें पर्यटन करते हुए सम्पूर्ण भवोंको भोगा है। इस संसाररूपी जंजीरसे मैं कब छूटूँगा। यह संसार मेरा नहीं, मैं मोक्षमयी हूँ," ऐसा चिंतवन करना तीसरी 'संसारभावना' है।

४ "यह मेरा आत्मा अकेला है, यह अकेला आया है, अकेला ही जायगा, और अपने किये हुए कर्मोंको अकेला ही भोगेगा," ऐसा चिंतवन करना चौथी 'एकत्वभावना' है।

५ इस संसारमें कोई किसीका नहीं, ऐसा चिंतवन करना पाँचवी 'अन्यत्वभावना' है।

६ "यह शरीर अपवित्र है, मल-मूत्रकी खान है, रोग और जराके रहनेका धाम है, इस शरीरसे मैं न्यारा हूँ," ऐसा चिंतवन करना छठी 'अशुचिभावना' है।

७ राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सब आश्रवके कारण हैं, ऐसा चिंतवन करना सातवीं 'आश्रवभावना' है।

८ जीव, ज्ञान और ध्यानमें प्रवृत्त होकर नये कर्मोंको नहीं बाँधता, ऐसा चिंतवन करना आठवीं 'संवरभावना' है।

९ ज्ञानसहित क्रिया करना निर्जराका कारण है, ऐसा चिंतवन करना नौवीं 'निर्जराभावना' है।

१० लोकके स्वरूपकी उत्पत्ति, स्थिति, और विनाशका स्वरूप विचारना, वह दसवीं 'लोकस्वरूप भावना' है।

११ संसारमें भटकते हुए आत्माको सम्यग्ज्ञानकी प्रसादी प्राप्त होना दुर्लभ है; अथवा सम्यग्ज्ञान प्राप्त भी हुआ तो चारित्र—सर्व विरतिपरिणामरूप धर्म—का पाना दुर्लभ है, ऐसा चिंतवन करना ग्यारहवीं 'बोधिदुर्लभभावना' है।

१२ धर्मके उपदेशक तथा शुद्ध शास्त्रके बोधक गुरु, और इनके उपदेशका श्रवण मिलना दुर्लभ है, ऐसा चिंतवन करना बारहवीं 'धर्मदुर्लभभावना' है।

इन बारह भावनाओंको मननपूर्वक निरंतर विचारनेसे सत्पुरुषोंने उत्तम पदको पाया है, पाते हैं, और पावेंगे।

पर्वतने कहा, "अज अर्थात् बकरा"। नारद बोला, "हम तीनों जने जिस समय तेरे पिताके पास पढ़ते थे, उस समय तेरे पिताने तो 'अज' का अर्थ तीन वर्षके 'व्रीहि' बताया था, अब तू विपरीत अर्थ क्यों करता है? इस प्रकार परस्पर वचनोंका विवाद बढ़ा। तब पर्वतने कहा, "जो हमें वसुराजा कह दे, वह ठीक है।" इस बातको नारदने स्वीकार की, और जो जीते, उसके लिये एक शर्त लगाई। पर्वतकी माँ जो पासमें ही बैठी थी, उसने यह सब सुना। 'अज' का अर्थ 'व्रीहि' उसे भी याद था। परन्तु शर्तमें उसका पुत्र हारेगा, इस भयसे पर्वतकी माँ रातमें राजाके पास गई और पूछा,—"राजन्! 'अज' का क्या अर्थ है?" वसुराजाने संबंधपूर्वक कहा, "अजका अर्थ व्रीहि होता है"। तब पर्वतकी माँने राजासे कहा, "मेरे पुत्रने अजका अर्थ 'बकरा' कह दिया है, इसलिये आपको उसका पक्ष लेना पड़ेगा। वे लोग आपसे पूछनेके लिये आवेंगे।" वसुराजा बोला, "मैं असत्य कैसे कहूँगा, मुझसे यह न हो सकेगा।" पर्वतकी माँने कहा, "परन्तु यदि आप मेरे पुत्रका पक्ष न लेंगे, तो मैं आपको हत्याका पाप दूँगी।" राजा विचारमें पड़ गया, कि सत्यके कारण ही मैं रत्नजड़ित सिंहासनपर अधर बैठा हूँ, लोकसमुदायका न्याय करता हूँ, और लोग भी यही जानते हैं, कि राजा सत्य गुणसे सिंहासनपर अंतरीक्ष बैठता है। अब क्या करना चाहिये? यदि पर्वतका पक्ष न दूँ, तो ब्राह्मणी मरती है; और यह मेरे गुरुकी स्त्री है। अन्तमें लाचार होकर राजाने ब्राह्मणीसे कहा, "तुम बेधड़क जाओ, मैं पर्वतका पक्ष लूँगा।" इस प्रकार निश्चय कराकर पर्वतकी माँ घर आयी। प्रभातमें नारद, पर्वत और उसकी माँ विवाद करते हुए राजाके पास आये। राजा अनजान होकर पूछने लगा कि क्या बात है, पर्वत? पर्वतने कहा, "राजाधिराज! अजका क्या अर्थ है, सो कहिये।" राजाने नारदसे पूछा, "तुम इसका क्या अर्थ करते हो?" नारदने कहा, 'अज' का अर्थ तीन वर्षका 'व्रीहि' होता है। तुम्हें क्या याद नहीं आता? वसुराजा बोला, 'अज' का अर्थ 'बकरा' है 'व्रीहि' नहीं। इतना कहते ही देवताने सिंहासनसे उछालकर वसुको नीचे गिरा दिया। वसु काल-परिणाम पाकर नरकमें गया।

इसके ऊपरसे यह मुख्य शिक्षा मिलती है, कि सामान्य मनुष्योंको सत्य, और राजाको न्यायमें अपक्षपात और सत्य दोनों ग्रहण करने योग्य है।

भगवानने जो पाँच महाव्रत कहे हैं, उनमेंसे प्रथम महाव्रतकी रक्षाके लिये बाकीके चार व्रत बाड़रूप हैं, और उनमें भी पहली बाड़ सत्य महाव्रत है। इस सत्यके अनेक भेदोंको सिद्धांतसे श्रवण करना आवश्यक है।

२४ सत्संग

सत्संग सब सुखोंका मूल है। सत्संगका लाभ मिलते ही उसके प्रभावसे वांछित सिद्धि हो ही जाती है। चाहे जैसे पवित्र होनेके लिये सत्संग श्रेष्ठ साधन है। सत्संगकी एक घड़ी जितना लाभ देती है, उतना कुसंगके करोड़ों वर्ष भी लाभ नहीं दे सकते। वे अधोगतिमय महापाप कराते हैं, और आत्माको मलिन करते हैं। सत्संगका सामान्य अर्थ उत्तम लोगोंका सहवास करना होता है। जैसे जहाँ अच्छी हवा नहीं आती, वहाँ रोगकी वृद्धि होती है, वैसे ही जहाँ सत्संग नहीं, वहाँ आत्मरोग बढ़ता

है। जैसे दुर्गंधसे घबड़ाकर हम नाकमें वस्त्र लगा लेते हैं, वैसे ही कुसंगका सहवास बंद करना आवश्यक है। संसार भी एक प्रकारका संग है, और वह अनंत कुसंगरूप तथा दुःखदायक होनेसे त्यागने योग्य है। चाहे जिस तरहका सहवास हो परन्तु जिससे आत्म-सिद्धि न हो, वह सत्संग नहीं। जो आत्मापर सत्यका रंग चढ़ावे, वह सत्संग है, और जो मोक्षका मार्ग बतावे वह मैत्री है। उत्तम शास्त्रमें निरंतर एकाग्र रहना भी सत्संग है। सत्पुरुषोंका समागम भी सत्संग है। जैसे मलिन वस्त्र साबुन तथा जलसे साफ़ हो जाता है, वैसे ही शास्त्र-बोध और सत्पुरुषोंका समागम आत्माकी मलिनताको हटाकर शुद्धता प्रदान करते हैं। जिसके साथ हमेशा परिचय रहकर राग, रंग, गान, तान और स्वादिष्ट भोजन सेवन किये जाते हों, वह तुम्हें चाहे कितना भी प्रिय हो, तो भी निश्चय मानो कि वह सत्संग नहीं, परन्तु कुसंग है। सत्संगसे प्राप्त हुआ एक वचन भी अमूल्य लाभ देता है। तत्त्वज्ञानियोंका यह मुख्य उपदेश है, कि सर्व संगका परित्याग करके अंतरंगमें रहनेवाले सब विकारोंसे विरक्त रहकर एकांतका सेवन करो। उसमें सत्संगका माहात्म्य आ जाता है। सम्पूर्ण एकांत तो ध्यानमें रहना अथवा योगाभ्यासमें रहना है। परन्तु जिसमेंसे एक ही प्रकारकी वृत्तिका प्रवाह निकलता हो, ऐसा समस्वभावीका समागम, भावसे एक ही रूप होनेसे बहुत मनुष्योंके होने पर भी, और परस्परका सहवास होनेपर भी, एकान्तरूप ही है; और ऐसा एकान्त तो मात्र संत-समागममें ही है। कदाचित् कोई ऐसा सोचेगा, कि जहाँ विषयीमंडल एकत्रित होता है, वहाँ समभाव और एक सरखी वृत्ति होनेसे उसे भी एकांत क्यों नहीं कहना चाहिये! इसका समाधान तत्काल हो जाता है, कि ये लोग एक स्वभावके नहीं होते। उनमें परस्पर स्वार्थबुद्धि और मायाका अनुसंधान होता है; और जहाँ इन दो कारणोंसे समागम होता है, वहाँ एकस्वभाव अथवा निर्दोषता नहीं होती। निर्दोष और समस्वभावीका समागम तो परस्पर शान्त मुनीश्वरोंका है, तथा वह धर्मध्यानमें प्रशस्त अल्पारंभी पुरुषोंका भी कुछ अंशमें है। जहाँ केवल स्वार्थ और माया-कपट ही रहता है, वहाँ समस्वभावता नहीं, और वह सत्संग भी नहीं। सत्संगसे जो सुख और आनन्द मिलता है, वह अत्यन्त स्तुतिपात्र है। जहाँ शास्त्रोंके सुंदर प्रश्नोत्तर हों, जहाँ उत्तम ज्ञान और ध्यानकी सुकथा हो, जहाँ सत्पुरुषोंके चरित्रोंपर विचार बनते हों, जहाँ तत्त्वज्ञानके तरंगकी लहरें छूटती हों, जहाँ सरल स्वभावसे सिद्धान्त-विचारकी चर्चा होती हो, जहाँ मोक्ष विषयक कथनपर खूब विवेचन होता हो, ऐसा सत्संग मिलना महा दुर्लभ है। यदि कोई यह कहे, कि क्या सत्संग मंडलमें कोई मायावी नहीं होगा? ... इसका समाधान यह है, कि जहाँ माया और स्वार्थ होता है, वहाँ सत्संग ही नहीं होता। ... [illegible] ... कदाचित् न पहचाना जाय, तो अवश्य ... [illegible]

पर्वतने कहा, " अज अर्थात् बकरा " । नारद बोला, " हम तीनों जने जिस समय तेरे पिताके पास पढ़ते थे, उस समय तेरे पिताने तो ' अज ' का अर्थ तीन वर्षके ' व्रीहि ' बताया था, अब तू विपरीत अर्थ क्यों करता है ? इस प्रकार परस्पर वचनोंका विवाद बढ़ा । तब पर्वतने कहा, " जो हमें वसुराजा कह दे, वह ठीक है । " इस बातको नारदने स्वीकार की, और जो जीते, उसके लिये एक शर्त लगाई । पर्वतकी माँ जो पासमें ही बैठी थी, उसने यह सब सुना । ' अज ' का अर्थ ' व्रीहि ' उसे भी याद था । परन्तु शर्तमें उसका पुत्र हारेगा, इस भयसे पर्वतकी माँ रातमें राजाके पास गई और पूछा,—" राजन् ! ' अज ' का क्या अर्थ है ? " वसुराजाने संबंधपूर्वक कहा, " अजका अर्थ व्रीहि होता है " । तब पर्वतकी माँने राजासे कहा, " मेरे पुत्रने अजका अर्थ ' बकरा ' कह दिया है, इसलिये आपको उसका पक्ष लेना पड़ेगा । वे लोग आपसे पूछनेके लिये आवेंगे। " वसुराजा बोला, " मैं असत्य कैसे कहूँगा, मुझसे यह न हो सकेगा । " पर्वतकी माँने कहा, " परन्तु यदि आप मेरे पुत्रका पक्ष न लेंगे, तो मैं आपको हत्याका पाप दूँगी । " राजा विचारमें पड़ गया, कि सत्यके कारण ही मैं मणिमय सिंहासनपर अधर बैठा हूँ, लोक-समुदायका न्याय करता हूँ, और लोग भी यही जानते हैं, कि राजा सत्य गुणसे सिंहासनपर अंतरीक्ष बैठता है । अब क्या करना चाहिये ? यदि पर्वतका पक्ष न दूँ, तो ब्राह्मणी मरती है; और यह मेरे गुरुकी स्त्री है । अन्तमें लाचार होकर राजाने ब्राह्मणीसे कहा, " तुम बेखटके जाओ, मैं पर्वतका पक्ष लूँगा । " इस प्रकार निश्चय कराकर पर्वतकी माँ घर आयी। प्रभातमें नारद, पर्वत और उसकी माँ विवाद करते हुए राजाके पास आये । राजा अनजान होकर पूछने लगा कि क्या बात है, पर्वत ? पर्वतने कहा, " राजाधिराज ! अजका क्या अर्थ है, सो कहिये। " राजाने नारदसे पूछा, " तुम इसका क्या अर्थ करते हो ? " नारदने कहा, ' अज ' का अर्थ तीन वर्षका ' व्रीहि ' होता है । तुम्हें क्या याद नहीं आता ? वसुराजा बोला, ' अज ' का अर्थ ' बकरा ' है ' व्रीहि ' नहीं । इतना कहते ही देवताने सिंहासनसे उछालकर वसुको नीचे गिरा दिया । वसु काल-परिणाम पाकर नरकमें गया ।

इसके ऊपरसे यह मुख्य शिक्षा मिलती है, कि सामान्य मनुष्योंको सत्य, और राजाको न्यायमें अपक्षपात और सत्य दोनों ग्रहण करने योग्य हैं ।

भगवान्‌ने जो पाँच महाव्रत कहे हैं, उनमेंसे प्रथम महाव्रतकी रक्षाके लिये बाकीके चार व्रत बाड़रूप हैं, और उनमें भी पहली बाड़ सत्य महाव्रत है । इस सत्यके अनेक भेदोंको सिद्धान्तसे श्रवण करना आवश्यक है ।

२४ सत्संग

सत्संग सब सुखोंका मूल है । सत्संगका लाभ मिलते ही उसके प्रभावसे वांछित सिद्धि हो ही जाती है । अधिकसे अधिक भी पवित्र होनेके लिये सत्संग श्रेष्ठ साधन है । सत्संगकी एक घड़ी जितना लाभ देती है, उतना कुसंगके करोड़ों वर्ष भी लाभ नहीं दे सकते । वे अधोगतिमय महापाप कराते हैं, और आत्माको मलिन करते हैं । सत्संगका सामान्य अर्थ उत्तम लोगोंका सहवास करना होता है । जैसे जहाँ अच्छी हवा नहीं आती, वहाँ रोगकी वृद्धि होती है, वैसे ही जहाँ सत्संग नहीं, वहाँ आत्म-रोग बढ़ता

है। जैसे दुर्गंधसे घबड़ाकर हम नाकमें वस्त्र लगा लेते हैं, वैसे ही कुसंगका सहवास बंद करना आवश्यक है। संसार भी एक प्रकारका संग है, और वह अनंत कुसंगरूप तथा दुःखदायक होनेसे त्यागने योग्य है। चाहे जिस तरहका सहवास हो परन्तु जिससे आत्म-सिद्धि न हो, वह सत्संग नहीं। जो आत्मापर सत्यका रंग चढ़ावे, वह सत्संग है, और जो मोक्षका मार्ग बतावे वह मैत्री है। उत्तम शास्त्रमें निरंतर एकाग्र रहना भी सत्संग है। सत्पुरुषोंका समागम भी सत्संग है। जैसे मलिन वस्त्र साबुन तथा जलसे साफ़ हो जाता है, वैसे ही शास्त्र-बोध और सत्पुरुषोंका समागम आत्माकी मलिनताको हटाकर शुद्धता प्रदान करते हैं। जिनके साथ हमेशा परिचय रहकर राग, रंग, गान, तान और स्वादिष्ट भोजन सेवन किये जाते हों, वह तुम्हें चाहे कितना भी प्रिय हो, तो भी निश्चय मानो कि वह सत्संग नहीं, परन्तु कुसंग है। सत्संगसे प्राप्त हुआ एक वचन भी अमूल्य लाभ देता है। तत्त्वज्ञानियोंका यह मुख्य उपदेश है, कि सर्व संगका परित्याग करके अंतरंगमें रहनेवाले सब विकारोंसे विरक्त रहकर एकांतका सेवन करो। उसमें सत्संगका माहात्म्य आ जाता है। सम्पूर्ण एकांत तो ध्यानमें रहना अथवा योगाभ्यासमें रहना है। परन्तु जिसमेंसे एक ही प्रकारकी वृत्तिका प्रवाह निकलता हो, ऐसा समस्वभावीका समागम, भावसे एक ही रूप होनेसे बहुत मनुष्योंके होने पर भी, और परस्परका सहवास होनेपर भी, एकान्तरूप ही है; और ऐसा एकान्त तो मात्र संत-समागममें ही है। कदाचित् कोई ऐसा सोचेगा, कि जहां विषयीमंडल एकत्रित होता है, वहां समभाव और एक सरखी वृत्ति होनेसे उसे भी एकांत क्यों नहीं कहना चाहिये? इसका समाधान तत्काल हो जाता है, कि ये लोग एक स्वभावके नहीं होते। उनमें परस्पर स्वार्थबुद्धि और मायाका अनुसंधान होता है; और जहाँ इन दो कारणोंसे समागम होता है, वहाँ एक-स्वभाव अथवा निर्दोषता नहीं होती। निर्दोष और समस्वभावीका समागम तो परस्पर शान्त मुनीश्वरोंका है, तथा वह धर्मध्यानसे प्रशस्त अल्पारंभी पुरुषोंका भी कुछ अंशमें है। जहां केवल स्वार्थ और माया-कपट ही रहता है, वहां समस्वभावता नहीं, और वह सत्संग भी नहीं। सत्संगसे जो सुख और आनन्द मिलता है, वह अत्यन्त स्तुतिपात्र है। जहाँ शास्त्रोंके सुंदर प्रश्नोत्तर हों, जहाँ उत्तम ज्ञान और ध्यानकी सुकथा हो, जहाँ सत्पुरुषोंके चरित्रोंपर विचार बनते हों, जहाँ तत्त्वज्ञानके तरंगकी लहरें छूटती हों, जहाँ सरल स्वभावसे सिद्धांत-विचारकी चर्चा होती हो, जहाँ मोक्ष विषयक कथनपर खूब विवेचन होता हो, ऐसा सत्संग मिलना महा दुर्लभ है। यदि कोई यह कहे, कि क्या सत्संग मंडलमें कोई मायावी नहीं होता? तो इसका समाधान यह है, कि जहाँ माया और स्वार्थ होता है, वहाँ सत्संग ही नहीं होता। राजहंसकी सभाका कौआ यदि रूपसे देखनेमें कदाचित् न पहचाना जाय, तो स्वरसे अवश्य पहचाना जायगा। यदि वह मौन रहे, तो मुखकी मुद्रासे पहचाना जायगा। परन्तु वह कभी छिपा न रहेगा। इसीप्रकार मायावी [illegible] सत्संगमें स्वार्थके लिये जाकर क्या करेंगे? वहाँ पेट भरनेकी बात तो होती नहीं। [illegible] जाकर विश्राम [illegible] हो, तो खुशीसे ले जिसने [illegible] [illegible] नहीं होता [illegible] प्रकार जमीनपर नहीं टेग जाता, [illegible] [illegible] निर्दोष समागममें मायावी [illegible] इतना, और वह भी असंभव है।

[illegible] हितकारी औषध है।

२५. परिग्रहको मर्यादित करना

जिस प्राणीको परिग्रहकी मर्यादा नहीं, वह प्राणी सुखी नहीं। उसे जितना भी मिले वह थोड़ा ही है। क्योंकि जितना उसे मिलता जाता है उतनेसे विशेष प्राप्त करनेकी उसकी इच्छा होती जाती है। परिग्रहकी प्रबलतामें जो कुछ मिला हो, उसका भी सुख नहीं भोगा जाता, परन्तु जो होता है वह भी कदाचित् चला जाता है। परिग्रहसे निरंतर चल-विचल परिणाम और पाप-भावना रहती है। अकस्मात् ऐसी पाप-भावनामें यदि आयु पूर्ण हो, तो वह बहुधा अधोगतिका कारण हो जाता है। सम्पूर्ण परिग्रह तो मुनीश्वर ही त्याग सकते हैं। परन्तु गृहस्थ भी इसकी कुछ मर्यादा कर सकते हैं। मर्यादा होनेके उपरांत परिग्रहकी उत्पत्ति ही नहीं रहती। तथा इसके कारण विशेष भावना भी बहुधा नहीं होती, और जो मिला है, उसमें संतोष रखनेकी आदत पड़ जाती है। इससे काल सुखसे व्यतीत होता है। न जाने लक्ष्मी आदिमें कैसी विचित्रता है, कि जैसे जैसे उसका लाभ होता जाता है, वैसे वैसे लोभकी वृद्धि होती जाती है। धर्मसंबंधी कितना ही ज्ञान होनेपर और धर्मकी दृढता होनेपर भी परिग्रहके पाशमें पड़े हुए पुरुष कोई विरले ही छूट सकते हैं। वृत्ति इसमें ही लटकी रहती है। परन्तु यह वृत्ति किसी कालमें सुखदायक अथवा आत्महितैषी नहीं हुई। जिसने इसकी मर्यादा थोड़ी नहीं की वह बहुत दुःखका भागी हुआ है।

छह खंडोंको जीतकर आज्ञा चलानेवाला राजाधिराज चक्रवर्ती कहलाता है। इन समर्थ चक्रवर्तियोंमें सुभूम नामक एक चक्रवर्ती हो गया है। यह छह खंडोंके जीतनेके कारण चक्रवर्ती माना गया। परन्तु इतनेसे उसकी मनोवाञ्छा तृप्त न हुई, अब भी वह तरसता ही रहा। इसलिये इसने धातकी खंडके छह खंडोंको जीतनेका निश्चय किया। सब चक्रवर्ती छह खंडोंको जीतते हैं, और मैं भी इतने ही जीतूँ, उसमें क्या महत्ता है? बारह खंडोंके जीतनेसे मैं चिरकाल तक प्रसिद्ध रहूँगा, और समर्थ आज्ञा जीवनपर्यंत इन खंडोंपर चला सकूँगा। इस विचारसे उसने समुद्रमें चर्मरत्न छोड़ा। उसके ऊपर सब सैन्य आदिका आधार था। चर्मरत्नके एक हजार देवता सेवक होते हैं। उनमें प्रथम एकने विचारा, कि न जाने इसमेंसे कितने वर्षोंमें छुटकारा होगा, इसलिये अपनी देवांगनासे तो मिल आऊँ। ऐसा विचार कर वह चला गया। इसी विचारसे दूसरा देवता गया, फिर तीसरा गया। ऐसे करते करते हज़ारके हज़ार देवता चले गये। अब चर्मरत्न डूब गया। अश्व, गज और सब सेनाके साथ सुभूम चक्रवर्ती भी डूब गया। पाप और पाप भावनामें ही मरकर वह चक्रवर्ती अनंत दुःखसे भरे हुए सातवें तमतमप्रभा नरकमें जाकर पड़ा। देखो! छह खंडका आधिपत्य तो भोगना एक ओर रहा, परन्तु अकस्मात् और भयंकर रीतिसे परिग्रहकी प्रीतिसे इस चक्रवर्तीकी मृत्यु हुई, तो फिर दूसरोंके लिये तो कहना ही क्या? परिग्रह यह पापका मूल है, पापका पिता है, और अन्य एकादश व्रतोंमें महादोष देना इसका स्वभाव है। इसलिये आत्महितैषियोंको जैसे बने वैसे इसका त्याग कर मर्यादापूर्वक आचरण करना चाहिये।

२६ तत्त्व समझना

जिनको शास्त्रके शास्त्र कंठस्थ हों, ऐसे पुरुष बहुत मिल सकते हैं। परन्तु जिन्होंने थोड़े वचनों-

पर प्रौढ और विवेकपूर्वक विचार कर शास्त्र जितना ज्ञान हृदयंगम किया हो, ऐसे पुरुष मिलने दुर्लभ हैं। तत्त्वको पहुँच जाना कोई छोटी बात नहीं, यह कूदकर समुद्रके उलाँघ जानेके समान है।

अर्थ शब्दके लक्ष्मी, तत्त्व, और शब्द, इस तरह बहुतसे अर्थ होते हैं। परन्तु यहाँ अर्थ अर्थात् 'तत्त्व' इस विषयपर कहना है। जो निर्ग्रंथ प्रवचनमें आये हुए पवित्र वचनोंको कंठस्थ करते हैं, वे अपने उत्साहके बलसे सत्फलका उपार्जन करते हैं। परन्तु जिन्होंने उसका मर्म पाया है, उनको तो इससे सुख, आनंद, विवेक और अन्तमें महान् फलकी प्राप्ति होती है। अपढ़ पुरुष जितना सुंदर अक्षर और खेंची हुई मिथ्या लकीर इन दोनोंके भेदको जानता है, उतना ही मुखपाठी अन्य ग्रंथोंके विचार और निर्ग्रंथ प्रवचनको भेदरूप मानता है। क्योंकि उसने अर्थपूर्वक निर्ग्रंथ वचनामृतको धारण नहीं किया, और उसपर यथार्थ तत्त्व-विचार नहीं किया। यद्यपि तत्त्व-विचार करनेमें समर्थ बुद्धि-प्रभावकी आवश्यकता है, तो भी कुछ विचार जरूर कर सकता है। पत्थर पिघलता नहीं, फिर भी पानीसे भीग जाता है। इसीतरह जिसने वचनामृत कंठस्थ किया हो, वह अर्थ सहित हो तो बहुत उपयोगी हो सकता है। नहीं तो तोतेवाला राम नाम। तोतेको कोई परिचयमें आकर राम नाम कहना भले ही सिखला दे, परन्तु तोतेकी बला जाने, कि राम अनारको कहते हैं, या अंगूरको। सामान्य अर्थके समझे बिना ऐसा होता है। कच्छी वैश्योंका एक दृष्टांत कहा जाता है। वह हास्ययुक्त कुछ अवश्य है, परन्तु इससे उत्तम शिक्षा मिल सकती है। इसलिये इसे यहाँ कहता हूँ। कच्छके किसी गाँवमें श्रावक-धर्मको पालते हुए रायशी, देवशी और खेतशी नामके तीन ओसवाल रहते थे। वे नियमित रीतिसे संध्याकाल और प्रभातमें प्रतिक्रमण करते थे। प्रभातमें रायशी और संध्याकालमें देवशी प्रतिक्रमण कराते थे। रात्रिका प्रतिक्रमण रायशी कराता था। रात्रिके संबंधसे 'रायशी पडिक्कमणुं ठायंमि' इस तरह उसे बुलवाना पड़ता था। इसी तरह देवशीको दिनका संबंध होनेसे 'देवशी पडिक्कमणुं ठायंमि' यह बुलवाना पड़ता था। योगानुयोगसे एक दिन बहुत लोगोंके आग्रहसे संध्याकालमें खेतशीको प्रतिक्रमण बुलवाने बैठाया। खेतशीने जहाँ 'देवशी पडिक्कमणुं ठायंमि' आया, वहाँ 'खेतशी पडिक्कमणुं ठायंमि' यह वाक्य लगा दिया। यह सुनकर सब हँसने लगे और उन्होंने पूँछा, यह क्या! खेतशी बोला, क्यों? सबने कहा, कि तुम 'खेतशी पडिक्कमणुं ठायंमि' ऐसे क्यों बोलते हो! खेतशीने कहा, कि मैं गरीब हूँ इसलिये मेरा नाम आया तो वहाँ आप लोग तुरत ही तकरार कर बैठे। परन्तु रायशी और देवशीके लिये तो किसी दिन कोई बोलता भी नहीं। ये दोनों क्यों 'रायशी पडिक्कमणुं ठायंमि' और 'देवशी पडिक्कमणुं ठायंमि' ऐसा कहते हैं? तो फिर मैं 'खेतशी पडिक्कमणुं ठायंमि' [illegible] विनोद [illegible]। यद्यपि प्रतिक्रमणका [illegible] सहित [illegible] प्रतिक्रमणसे [illegible]

[illegible]

जा सकता है। पांच समितिरूप यतना तो बहुत श्रेष्ठ है, परन्तु गृहस्थाश्रमीसे वह सर्वथारूपसे नहीं पल सकती। तो भी जितने अंशोंमें वह पाली जा सकती है, उतने अंशोंमें भी वे उसे सावधानीसे नहीं पाल सकते। जिनेश्वर भगवान्‌की उपदेश की हुई स्थूल और सूक्ष्म दयाके प्रति जहाँ बेदरकारी है, वहाँ वह बहुत दोषसे पाली जा सकती है। यह यतनाके रखनेकी न्यूनताके कारण है। जल्दी और वेगभरी चाल, पानी छानकर उसके बिनछन रखनेकी अपूर्ण विधि, काष्ठ आदि ईंधनका बिना झाड़े, बिना देखे उपयोग, अनाजमें रहनेवाले जंतुओंकी अपूर्ण शोध, बिना झाड़े बुहारे रक्खे हुए पात्र, अस्वच्छ रक्खे हुए कमरे, आँगनमें पानीका उड़ेलना, जूठनका रख छोड़ना, पटड़ेके बिना धधकती थालीका नीचे रखना; इनसे हमें इस लोकमें अस्वच्छता, प्रतिकूलता, असुविधा, अस्वस्थता इत्यादि फल मिलते हैं, और ये परलोकमें भी दुःखदायी महापापका कारण हो जाते हैं। इसलिये कहनेका तात्पर्य यह है, कि चलनेमें, बैठनेमें, उठनेमें, भोजन करनेमें और दूसरी हरेक क्रियामें यतनाका उपयोग करना चाहिये। इससे द्रव्य और भाव दोनों प्रकारके लाभ हैं। चालको धीमी और गंभीर रखना, घरका स्वच्छ रखना, पानीका विधि सहित छानना, काष्ठ आदि ईंधनका झाड़कर उपयोग करना, ये कुछ हमें असुविधा देनेवाले काम नहीं, और इनमें विशेष समय भी नहीं जाता। ऐसे नियमोंको दाखिल करनेके पश्चात् पालना भी मुश्किल नहीं है। इससे विचारे असंख्यात निरपराधी जंतुओंकी रक्षा हो जाती है।

प्रत्येक कामको यतनापूर्वक ही करना यह विवेकी श्रावकका कर्तव्य है।

२८ रात्रिभोजन

अहिंसा आदि पाँच महाव्रतोंकी तरह भगवान्‌ने रात्रिभोजनत्याग व्रत भी कहा है। रात्रिमें चार प्रकारका आहार अभक्ष्य है। जिस जातिके आहारका रंग होता है उस जातिके तमस्काय नामके जीव उस आहारमें उत्पन्न होते हैं। इसके सिवाय रात्रिभोजनमें और भी अनेक दोष हैं। रात्रिमें भोजन करनेवालेको रसोईके लिये अग्नि जलानी पड़ती है। उस समय समीपकी दिवालपर रहते हुए निरपराधी सूक्ष्म जंतु नाश पाते हैं। ईंधनके वास्ते लाये हुए काष्ठ आदिमें रहते हुए जंतु रात्रिमें न दीखनेसे नाश हो जाते हैं। रात्रिभोजनमें सर्पके जहरका, मकड़ीकी लारका और मच्छर आदि सूक्ष्म जंतुओंका भी भय रहता है। कभी कभी यह कुटुंब आदिके भयंकर रोगका भी कारण हो जाता है।

रात्रिभोजनका पुराण आदि मतोंमें भी सामान्य आचारके लिये त्याग किया है, फिर भी उनमें परम्पराकी रूढ़िको लेकर रात्रिभोजन घुस गया है। परन्तु यह निषिद्ध तो है ही।

शरीरके अंदर दो प्रकारके कमल होते हैं। वे सूर्यके अस्तसे संकुचित हो जाते हैं। इसकारण रात्रिभोजनमें सूक्ष्म जीवोंका भक्षण होनेसे अहित होता है, यह महारोगका कारण है। ऐसा बहुतसे स्थलोंमें आयुर्वेदका भी मत है।

सत्पुरुष दो घड़ी दिनसे ब्यालू करते हैं, और दो घड़ी दिन चढ़नेसे पहले किसी भी प्रकारका आहार नहीं करते। रात्रिभोजनके लिये विशेष विचार मुनियोंके समागमसे अथवा शास्त्रोंसे जानना चाहिये। इस संबंधमें बहुत सूक्ष्म भेदोंका जानना आवश्यक है।

चार प्रकारके आहार रात्रिमें त्याग करनेसे महान् फल है, यह जिनवचन है।

२९ जीवकी रक्षा

(१)

दयाके समान एक भी धर्म नहीं। दया ही धर्मका स्वरूप है। जहाँ दया नहीं वहाँ धर्म नहीं। पृथिवीतलमें ऐसे अनर्थकारक धर्ममत प्रचलित हैं, जो कहते हैं कि जीवका वध करनेमें लेश-मात्र भी पाप नहीं होता। बहुत करो तो मनुष्य देहकी रक्षा करो। ये धर्ममतवाले लोग धर्मोन्मादी और मदांध हैं, और ये दयाका लेशमात्र भी स्वरूप नहीं जानते। यदि ये लोग अपने हृदय-पटको प्रकाशमें रखकर विचार करें, तो उन्हें अवश्य मालूम होगा, कि एक सूक्ष्मसे सूक्ष्म जंतुका भी वध करनेसे महापाप है। जैसे मुझे मेरी आत्मा प्रिय है, वैसे ही अन्य जीवोंको उनकी आत्मा प्रिय है। मैं अपने लेशभर व्यसनके लिये अथवा लाभके लिये ऐसे असंख्यातों जीवोंका बेधड़क वध करता हूँ, यह मुझे कितना अधिक अनंत दुःखका कारण होगा। इन लोगोंमें बुद्धिका बीज भी नहीं है, इसलिये वे लोग ऐसे सात्विक विचार नहीं कर सकते। ये पाप ही पापमें निशदिन मग्न रहते हैं। वेद और वैष्णव आदि पंथोंमें भी सूक्ष्म दयाका कोई विचार देखनेमें नहीं आता। तो भी ये दयाको बिलकुल ही नहीं समझनेवालोंकी अपेक्षा बहुत उत्तम हैं। स्थूल जीवोंकी रक्षा करना ये लोक ठीक तरहसे समझे हैं। परन्तु इन सबकी अपेक्षा हम कितने भाग्यशाली हैं, कि जहाँ एक पुष्पकी पँखड़ीको भी पीड़ा हो, वहाँ पाप है, इस वास्तविक तत्त्वको समझे, और यज्ञ याग आदिकी हिंसासे तो सर्वथा विरक्त रहे। हम यथाशक्ति जीवोंकी रक्षा करते हैं, तथा जान-बूझकर जीवोंका वध करनेकी हमारी लेशभर भी इच्छा नहीं। अनंतकाय अभक्ष्यसे बहुत करके हम विरक्त ही हैं। इस कालमें यह समस्त पुण्य-प्रताप सिद्धार्थ भूपालके पुत्र महावीरके कहे हुए परम तत्त्वके उपदेशके योग-बलसे बढ़ा है। मनुष्य ऋद्धि पाते हैं, सुंदर स्त्री पाते हैं, आज्ञानुवर्ती पुत्र पाते हैं, बहुत बड़ा कुटुम्ब परिवार पाते हैं, मान-प्रतिष्ठा और अधिकार पाते हैं और यह पाना कोई दुर्लभ भी नहीं। परन्तु वास्तविक धर्म-तत्त्व, उसकी श्रद्धा अथवा उसका थोड़ा अंश भी पाना महा दुर्लभ है। ये ऋद्धि इत्यादि अविवेकसे पापका कारण होकर अनंत दुःखमें ले जाती है, परन्तु यह थोड़ी श्रद्धा-भावना भी उत्तम पदवीमें पहुँचाती है। यह दयाका सत्परिणाम है। हमने धर्म-तत्त्व युक्त कुलमें जन्म पाया है, इसलिये अब जैसे बने विमल दयामय आचारमें आना चाहिये। सब जीवोंकी रक्षा करनी, इस बातको हमें सदैव लक्षमें रखना चाहिये। दूसरोंको भी ऐसी ही युक्ति प्रयुक्तियोंसे उपदेश देना चाहिये। सब जीवोंकी रक्षा करनेके लिये एक शिक्षाप्रद उत्तम युक्ति बुद्धिशाली अभयकुमारने की थी, उसे मैं अगले पाठमें कहता हूँ। इसी प्रकार तत्त्वबोधके लिये युक्तियुक्त न्यायसे अन [illegible] देनेका समय मिले, तो हम कितने भाग्यशाली हों!

३० सब जीवोंकी रक्षा

साँझको सभा विसर्जन हुई और राजा अन्तःपुरमें गया। तत्पश्चात् जिस जिसने क्रय-विक्रयके लिये माँसकी बात कही थी, अभयकुमार उन सबके घर गया। जिसके घर अभयकुमार गया, वहाँ सत्कार किये जानेके बाद सब सामंत पूँछने लगे, कि आपने हमारे घर पधारनेका कैसे कष्ट उठाया? अभयकुमारने कहा, "महाराज श्रेणिकको अकस्मात् महारोग उत्पन्न हो गया है। वैद्योंके इकट्ठे करनेपर उन्होंने कहा है, कि यदि कोमल मनुष्यके कलेजेका सवा पैसेभर माँस मिले तो यह रोग मिट सकता है। तुम लोग राजाके प्रिय-मान्य हो, इसलिये मैं तुम्हारे यहाँ इस माँसको लेने आया हूँ।" प्रत्येक सामंतने विचार किया कि कलेजेका माँस बिना मरे किस प्रकार दिया सकता है! उन्होंने अभयकुमारसे कहा, महाराज, यह तो कैसे हो सकता है! यह कहनेके पश्चात् प्रत्येक सामंतने अभयकुमारको अपनी बातको राजाके आगे न खोलनेके लिये बहुतसा द्रव्य दिया। अभयकुमारने इस द्रव्यको ग्रहण किया। इस तरह अभयकुमार सब सामंतोंके घर फिर आया। कोई भी सामत माँस न दे सका, और अपनी बातको छिपानेके लिये उन्होंने द्रव्य दिया। तत्पश्चात् दूसरे दिन जब सभा भरी, उस समय समस्त सामंत अपने अपने आसनपर आ आकर बैठे। राजा भी सिंहासनपर विराजमान था। सामंत लोग राजासे कलकी कुशल पूँछने लगे। राजा इस बातसे विस्मित हुआ। उसने अभयकुमारकी ओर देखा। अभयकुमार बोला, "महाराज! कल आपके सामंतोंने सभामें कहा था, कि आजकल माँस सस्ता मिलता है। इस कारण मैं उनके घर माँस लेने गया था। सबने मुझे बहुत द्रव्य दिया, परन्तु कलेजेका सवा पैसाभर माँस किसीने भी न दिया। तो इस माँसको सस्ता कहा जाय या महँगा?।" यह सुनकर सब सामंत शरमसे नीचे देखने लगे। कोई कुछ बोल न सका। तत्पश्चात् अभयकुमारने कहा, "यह मैंने कुछ आप लोगोंको दुःख देनेके लिये नहीं किया, परन्तु उपदेश देनेके लिये किया है। हमें अपने शरीरका माँस देना पड़े तो हमें अनंतभय होता है, कारण कि हमें अपनी देह प्रिय है। इसी तरह अन्य जीवोंका माँस उन जीवोंको भी प्यारा होगा। जैसे हम अमूल्य वस्तुओंको देकर भी अपनी देहकी रक्षा करते हैं, वैसे ही वे विचारे पामर प्राणी भी अपनी देहकी रक्षा करते होंगे। हम समझदार और बोलते चालते प्राणी हैं, वे विचारे अवाचक और निराधार प्राणी हैं। उनको मृत्युरूप दुःख देना कितना प्रबल पापका कारण है! हमें इस वचनको निरंतर लक्षमें रखना चाहिये कि "सब प्राणियोंको अपना अपना जीव प्रिय है, और सब जीवोंकी रक्षा करने जैसा एक भी धर्म नहीं।" अभयकुमारके भाषणसे श्रेणिक महाराजको संतोष हुआ। सब सामंतोंने भी शिक्षा ग्रहण की। सामंतोने उस दिनसे माँस न खानेकी प्रतिज्ञा की। कारण कि एक तो वह अभक्ष्य है, और दूसरे वह किसी जीवके मारे बिना नहीं मिलता, बड़ा अधर्म है। अतएव प्रधानका कथन सुनकर उन्होंने अभयदानमें लक्ष दिया।

अभयदान आत्माके परम सुखका कारण है।

३९ प्रत्याख्यान

'पच्चखाण' शब्द अनेक बार तुम्हारे सुननेमें आया होगा। इसका मूल शब्द 'प्रत्याख्यान' है। यह (शब्द) किसी वस्तुकी तरफ चित्त न करना, इस प्रकार तत्त्वसे समझकर हेतुपूर्वक नियम करनेके अर्थमें प्रयुक्त होता है। प्रत्याख्यान करनेका हेतु महा उत्तम और सूक्ष्म है। प्रत्याख्यान नहीं

करनेसे चाहे किसी वस्तुको न खाओ, अथवा उसका भोग न करो, तो भी उससे संवरपना नहीं। कारण कि हमने तत्त्वरूपसे इच्छाका रोध नहीं किया। हम रात्रिमें भोजन न करते हों, परंतु उसका यदि प्रत्याख्यानरूपमें नियम नहीं किया, तो वह फल नहीं देता। क्योंकि अपनी इच्छा खुली रहती है। जैसे घरका दरवाजा खुला होनेसे कुत्ते आदि जानवर अथवा मनुष्य भीतर चले आते हैं, वैसे ही इच्छाका द्वार खुला हो तो उसमें कर्म प्रवेश करते हैं। इसलिये इस ओर अपने विचार सरलतासे चले जाते हैं। यह कर्म-बन्धनका कारण है। यदि प्रत्याख्यान हो, तो फिर इस ओर दृष्टि करनेकी इच्छा नहीं होती। जैसे हम जानते हैं कि पीठके मध्य भागको हम नहीं देख सकते, इसलिये उस ओर हम दृष्टि भी नहीं करते, उसी प्रकार प्रत्याख्यान करनेसे हम अमुक वस्तुको नहीं खा सकते, अथवा उसका भोग नहीं कर सकते, इस कारण उस ओर हमारा लक्ष स्वाभाविकरूपसे नहीं जाता। यह कर्मोंके आनेके लिये बीचमें दीवार हो जाता है। प्रत्याख्यान करनेके पश्चात् विस्मृति आदि कारणोंसे कोई दोष आ जाय तो उसका प्रायश्चित्तसे निवारण करनेकी आज्ञा भी महात्माओंने दी है।

प्रत्याख्यानसे एक दूसरा भी बड़ा लाभ है। वह यह कि प्रत्याख्यानसे कुछ वस्तुओंमें ही हमारा लक्ष रह जाता है, बाकी सब वस्तुओंका त्याग हो जाता है। जिस जिस वस्तुका हमारे त्याग है, उन उन वस्तुओंके संबंधमें फिर विशेष विचार, उनका ग्रहण करना, रखना अथवा ऐसी कोई अन्य उपाधि नहीं रहती। इससे मन बहुत विशालताको पाकर नियमरूपी सड़कपर चला जाता है। जैसे यदि अश्व लगाममें आ जाता है, तो फिर चाहे वह कितना ही प्रबल हो उसे अभीष्ट रास्तेसे ले जाया जा सकता है, वैसे ही मनके नियमरूपी लगाममें आनेके बादमें उसे चाहे जिस शुभ रास्तेसे ले जाया जा सकता है, और उसमें बारम्बार पर्यटन करानेसे वह एकाग्र, विचारशील, और विवेकी हो जाता है। मनका आनन्द शरीरको भी निरोगी करता है। अभक्ष्य, अनंतकाय, परस्त्री आदिका नियम करनेसे भी शरीर निरोगी रह सकता है। मादक पदार्थ मनको कुमार्गपर ले जाते हैं। परन्तु प्रत्याख्यानसे मन वहाँ जाता हुआ रुक जाता है। इस कारण यह विमल होता है।

प्रत्याख्यान यह कैसी उत्तम नियम पालनेकी प्रतिज्ञा है, यह बात इसके ऊपरसे तुम समझे होगे। इसको विशेष सद्गुरुके मुखसे और शास्त्रावलोकनसे समझनेका मैं उपदेश करता हूँ।

३२ विनयसे तत्त्वकी सिद्धि है

राजगृही नगरीके राज्यासनपर जिस समय श्रेणिक राजा विराजमान था उस समय उस नगरीमें एक चंडाल रहता था। एक समय इस चंडालकी स्त्रीको गर्भ रहा। चंडालिनीको आम खानेकी इच्छा उत्पन्न हुई। उसने आमोंको लानेके लिये चंडालसे कहा। चंडालने कहा, यह आमोंका [illegible]

लिये निरंतर वह चंडाल विद्याके बलसे वहाँसे आम लाने लगा। एक दिन फिरते फिरते मालीकी दृष्टि आमोंपर गई। आमोंकी चोरी हुई जानकर उसने श्रेणिक राजाके आगे जाकर नम्रतापूर्वक सब हाल कहा। श्रेणिककी आज्ञासे अभयकुमार नामके बुद्धिशाली प्रधानने युक्तिके द्वारा उस चंडालको ढूँढ़ निकाला। चंडालको अपने आगे बुलाकर अभयकुमारने पूछा, इतने मनुष्य बागमें रहते हैं, फिर भी तू किस रीतिसे ऊपर चढ़कर आम तोड़कर ले जाता है, कि यह बात किसीके जाननेमें नहीं आती? चंडालने कहा, आप मेरा अपराध क्षमा करें। मैं सच सच कह देता हूँ कि मेरे पास एक विद्या है। उसके प्रभावसे मैं इन आमोंको तोड़ सका हूँ। अभयकुमारने कहा, मैं स्वयं तो क्षमा नहीं कर सकता। परन्तु महाराज श्रेणिकको यदि तू इस विद्याको देना स्वीकार करे, तो उन्हें इस विद्याके लेनेकी अभिलाषा होनेके कारण तेरे उपकारके बदलेमें मैं तेरा अपराध क्षमा करा सकता हूँ। चंडालने इस बातको स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् अभयकुमारने चंडालको जहाँ श्रेणिक राजा सिंहासनपर बैठे थे, वहाँ लाकर श्रेणिकके सामने खड़ा किया और राजाको सब बात कह सुनाई। इस बातको राजाने स्वीकार किया। बादमें चंडाल सामने खड़े रहकर थरथराते पगसे श्रेणिकको उस विद्याका बोध देने लगा, परन्तु वह बोध नहीं लगा। झटसे खड़े होकर अभयकुमार बोले, महाराज! आपको यदि यह विद्या अवश्य सीखनी है तो आप सामने आकर खड़े रहें, और इसे सिंहासन दें। राजाने विद्या लेनेके वास्ते ऐसा किया, तो तत्काल ही विद्या सिद्ध हो गई।

यह बात केवल शिक्षा ग्रहण करनेके वास्ते है। एक चंडालकी भी विनय किये बिना श्रेणिक जैसे राजाको विद्या सिद्ध न हुई, इसमेंसे यही सार ग्रहण करना चाहिये कि सद्विद्याको सिद्ध करनेके लिये विनय करना आवश्यक है। आत्म-विद्या पानेके लिये यदि हम निर्ग्रंथ गुरुका विनय करें, तो कितना मंगलदायक हो!

विनय यह उत्तम वशीकरण है। उत्तराध्ययनमें भगवान्‌ने विनयको धर्मका मूल कहकर वर्णन किया है। गुरुका, मुनिका, विद्वान्‌का, माता-पिताका और अपनेसे बड़ोंका विनय करना, ये अपनी उत्तमताके कारण हैं।

३३ सुदर्शन सेठ

प्राचीन कालमें शुद्ध एकपत्नीव्रतके पालनेवाले असंख्य पुरुष हो गये हैं, इनमें संकट सहकर प्रसिद्ध होनेवाले सुदर्शन नामका एक सत्पुरुष भी हो गया है। यह धनाढ्य, सुंदर मुखाकृतिवाला, कांतिमान और मध्यवयमें था। जिस नगरमें वह रहता था, एक बार किसी कामके प्रसंगमें उस नगरके राजदरबारके सामनेसे उसे निकलना पड़ा। उस समय राजाकी अभया नामकी रानी अपने महलके झरोखेमें बैठी थी। वहाँसे उसकी दृष्टि सुदर्शनकी तरफ गई। सुदर्शनका उत्तम रूप और शरीर देखकर अभयाका मन ललचा गया। अभयाने एक दासीको भेजकर कपट-भावसे निर्मल कारण बताकर सुदर्शनको ऊपर बुलाया। अनेक तरहकी बातचीत करनेके पश्चात् अभयाने सुदर्शनको भोगोंके भोगनेका आमंत्रण [illegible] सुदर्शनने बहुत [illegible] तो भी उसका मन शांत नहीं हुआ। अन्तमें [illegible] अनेक प्रकारके [illegible] हारकर बाहरसे [illegible]

एक बार इस नगरमें कोई उत्सव था। नगरके बाहर नगर-जन आनंदसे इधर उधर घूम रहे थे, धूमधाम मच रही थी। सुदर्शन सेठके छह देवकुमार जैसे पुत्र भी वहाँ आये थे। अभया रानी भी कपिला नामकी दासीके साथ ठाठबाटसे वहाँ आई थी। सुदर्शनके देवपुतले जैसे छह पुत्र उसके देखनेमें आये। उसने कपिलासे पूँछा, ऐसे रम्य पुत्र किसके हैं? कपिलाने सुदर्शन सेठका नाम लिया। सुदर्शनका नाम सुनते ही रानीकी छातीमें मानों कटार लगी, उसको गहरा घाव लगा। सब धूमधाम बीत जानेके पश्चात् माया-कथन घड़कर अभया और उसकी दासीने मिलकर राजासे कहा, "तुम समझते होगे कि मेरे राज्यमें न्याय और नीति चलती है, मेरी प्रजा दुर्जनोंसे दुःखी नहीं, परन्तु यह सब मिथ्या है। अंतःपुरमें भी दुर्जन प्रवेश करते हैं, यहाँ तक तो अंधेर है! तो फिर दूसरे स्थानोंके लिये तो पूँछना ही क्या! तुम्हारे नगरके सुदर्शन सेठने मुझे भोगका आमंत्रण दिया, और नहीं कहने योग्य कथन मुझे सुनना पड़ा। परन्तु मैंने उसका तिरस्कार किया। इससे विशेष अंधेर और क्या कहा जाय!" बहुतसे राजा वैसे ही कानके कच्चे होते हैं, यह बात प्रायः सर्वमान्य जैसी है, उसमें फिर स्त्रीके मायावी मधुर वचन क्या असर नहीं करते! गरम तेलमें ठंडे जल डालनेके समान रानीके वचनोंसे राजा क्रोधित हुआ। उसने सुदर्शनको शूलीपर चढ़ा देनेकी तत्काल ही आज्ञा दी, और तदनुसार सब कुछ हो भी गया। केवल सुदर्शनके शूलीपर बैठनेकी ही देर थी।

कुछ भी हो, परन्तु सृष्टिके दिव्य भंडारमें उजाला है। सत्यका प्रभाव ढँका नहीं रहता। सुदर्शनको शूलीपर बैठाते ही शूली फटकर उसका झिलमिलाता हुआ सोनेका सिंहासन हो गया। देवोंने दुंदुभिका नाद किया, सर्वत्र आनन्द फैल गया। सुदर्शनका सत्यशील विश्व-मंडलमें झलक उठा। सत्यशीलकी सदा जय होती है।

सुदर्शनका शील और उत्तम दृढ़ता ये दोनों आत्माको पवित्र श्रेणीपर चढ़ाते हैं।

३४ ब्रह्मचर्यके विषयमें सुभाषित

जो नवयौवनाको देखकर लेशमात्र भी विषय विकारको प्राप्त नहीं होते, जो उसे काठकी पुतलीके समान गिनते हैं, वे पुरुष भगवान्‌के समान हैं ॥ १ ॥

इस समस्त संसारकी नायकरूप रमणी सर्वथा शोकस्वरूप है, उसका जिन्होंने त्याग किया, उसने सब कुछ त्याग किया ॥ २ ॥

जिस प्रकार एक राजाके जीत लेनेसे उसका सैन्य-दल, नगर और अधिकार जीत लिये जाते हैं, उसी तरह एक विषयको जीत लेने समस्त संसार जीत लिया जाता है ॥ ३ ॥

जिस प्रकार थोड़ा भी [मदिरापान] करनेसे अज्ञान छा जाता है, उसी तरह विषयरूपी अंकुरसे ज्ञान और [ध्यान नष्ट हो] जाता है ॥ ४ ॥

३४ ब्रह्मचर्यविषे सुभाषित

दोहा

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

जो विशुद्ध नव बाड़पूर्वक सुखदायक शीलको धारण करता है, उसका संसार-भ्रमण बहुत कम हो जाता है। हे भाई! यह तात्त्विक वचन है ॥ ५ ॥

सुंदर शीलरूपी कल्पवृक्षको मन, वचन, और कायसे जो नर नारी सेवन करेंगे, वे अनुपम फलको प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

पात्रके बिना कोई वस्तु नहीं रहती, पात्रमें ही आत्मज्ञान होता है, पात्र बननेके लिये, हे बुद्धिमान् लोगो, ब्रह्मचर्यका सदा सेवन करो ॥ ७ ॥

३५ नमस्कारमंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

इन पवित्र वाक्योंको निर्ग्रंथप्रवचनमें नवकार (नमस्कार) मंत्र अथवा पंचपरमेष्ठीमंत्र कहते हैं अर्हंत भगवान्‌के बारह गुण, सिद्ध भगवान्‌के आठ गुण, आचार्यके छत्तीस गुण, उपाध्यायके पचीस गुण, और साधुके सत्ताईस गुण, ये सब मिलकर एक सौ आठ गुण होते हैं। अँगूठेके बिना बाकीकी चार अँगुलियोंके बारह पोरवे होते हैं, और इनसे इन गुणोंके चिंतवन करनेकी व्यवस्था होनेसे बारहको नौसे गुणा करनेपर १०८ होते हैं। इसलिये नवकार कहनेसे यह आशय मालूम होता है कि हे भव्य! अपनी अँगुलियोंके पोरवोंसे (नवकार) मंत्र नौ बार गिन। कार शब्दका अर्थ करनेवाला भी होता है। बारहको नौसे गुणा करनेपर जितने हों, उतने गुणोंसे भरा हुआ मंत्र नवकारमंत्र है, ऐसा नवकारमंत्रका अर्थ होता है। पंचपरमेष्ठीका अर्थ इस सकल जगतमें परमोत्कृष्ट पाँच वस्तुयें होता है। वे कौन कौन हैं? तो जवाब देते हैं, कि अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनको नमस्कार करनेका मंत्र परमेष्ठीमंत्र है। पाँच परमेष्ठियोंको एक साथमें नमस्कार होनेसे 'पंचपरमेष्ठीमंत्र' यह शब्द बना। यह मंत्र अनादिसिद्ध माना जाता है, कारण कि पंचपरमेष्ठी अनादिसिद्ध हैं। इसलिये ये पाचों पात्र आदि रूप नहीं, ये प्रवाहसे अनादि हैं, और उनका जपनेवाला भी अनादिसिद्ध है। इससे यह जाप भी अनादिसिद्ध ठहरती है।

प्रश्न—इस पंचपरमेष्ठीमंत्रके परिपूर्ण जाननेसे मनुष्य उत्तम गतिको पाते हैं, ऐसा सत्पुरुष कहते हैं। इस विषयमें आपका क्या मत है?

उत्तर—यह कहना न्यायपूर्वक है, ऐसा मैं मानता हूँ।

प्रश्न—इसे किस कारणसे न्यायपूर्वक कहा जा सकता है?

उत्तर—हाँ, यह तुम्हें मैं समझाता हूँ। मनके निग्रहके लिये यह सर्वोत्तम जगद्भूषणके सत्य गुणका चिंतवन है। तथा तत्त्वसे देखनेपर अर्हंतस्वरूप, सिद्धस्वरूप, आचार्यस्वरूप, उपाध्यायस्वरूप और साधुस्वरूप इनका विवेकसे विचार करनेका भी यह सूचक है। क्योंकि वे किस

जे नव वाड विशुद्धथी, धरे शियळ सुखदाई, भव तेनो लव पछी रहे, तत्त्ववचन ए भाई ॥ ५ ॥
सुंदर शीयळसुरतरु, मन वाणी ने देह, जे नरनारी सेवशे, अनुपम फळ ले तेह ॥ ६ ॥
पात्र विना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिक ज्ञान, पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिमान ॥ ७ ॥

कारणसे पूजने योग्य है, ऐसा विचारनेसे इनके स्वरूप, गुण इत्यादिका विचार करनेकी सत्पुरुषको तो सच्ची आवश्यकता है। अब कहो कि यह मंत्र कितना कल्याणकारक है!

प्रश्नकार—सत्पुरुष नमस्कारमंत्रको मोक्षका कारण कहते हैं, यह इस व्याख्यानसे मैं भी मान्य रखता हूँ।

अर्हंत भगवान्, सिद्ध भगवान्, आचार्य, उपाध्याय और साधु इनका एक एक प्रथम अक्षर लेनेसे "असिआउसा" यह महान् वाक्य बनता है। जिसका ॐ ऐसा योगबिंदुका स्वरूप होता है। इस लिये हमें इस मंत्रको विनय भावसे जाप करना चाहिये।

३६ अनुपूर्वी

नरकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी इन अनुपूर्वियोंके विषयका यह पाठ नहीं है, परन्तु यह 'अनुपूर्वी' नामकी एक अवधान संबंधी लघु पुस्तकके मंत्र स्मरणके लिये है।

१	२	३	४	५
२	१	३	४	५
१	३	२	४	५
३	१	२	४	५
२	३	१	४	५
३	२	१	४	५

पिता—इस तरहकी कोष्ठकसे भरी हुई एक छोटीसी पुस्तक है, क्या उसे तूने देखी है?

पुत्र—हाँ, पिताजी।

पिता—इसमें उलटे सीधे अंक रक्खे हैं, उसका कुछ कारण तेरी समझमें आया है?

पुत्र—नहीं पिताजी! मेरी समझमें नहीं आया, इसलिये आप उस कारणको कहिये।

पिता—पुत्र! यह प्रत्यक्ष है कि मन एक बहुत चंचल चीज है। इसे एकाग्र करना बहुत ही अधिक विकट है। वह जब तक एकाग्र नहीं होता, तब तक आत्माकी मलिनता नहीं जाती, और पापके विचार कम नहीं होते। इस एकाग्रताके लिये भगवान्ने बारह प्रतिज्ञा आदि अनेक महान् साधनोंको कहा है। मनकी एकाग्रतासे महायोगकी श्रेणी चढ़नेके लिये और उसे बहुत प्रकारसे निर्मल करनेके लिये सत्पुरुषोंने यह एक साधनरूप कोष्ठक बनाया है। इसमें पहले पंचपरमेष्ठीमंत्रके पाँच अंकोंको रक्खा है, और फिर लोमविलोम स्वरूपसे इन पाँचों ही अंकोंको लक्षबद्ध रखकर भिन्न भिन्न प्रकारसे कोष्ठक बनाया है। ऐसा करनेका कारण यह है, कि जिससे मनकी एकाग्रता होकर निर्जरा हो सके।

पुत्र—पिताजी ! इन्हें अनुक्रमसे लेनेसे यह क्यों नहीं बन सकता ?

पिता—यदि ये लोम-विलोम हों तो इन्हें जोड़ते जाना पड़े, और नाम याद करने पड़ें। पाँचका अंक रखनेके बाद दोका अंक आवे तो 'णमो लोए सव्वसाहूणं' के बादमें 'णमो अरिहंताणं' यह वाक्य छोड़कर 'णमो सिद्धाणं' वाक्य याद करना पड़े। इस प्रकार पुनः पुनः लक्ष्यको दृढ़ रखनेसे मन एकाग्रता पर पहुँचता है। ये अंक अनुक्रम-बद्ध हों तो ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि उस दशामें विचार नहीं करना पड़ता। इस सूक्ष्म समयमें मन परमेष्ठीमंत्रमेंसे निकलकर संसार-तंत्रकी खटपटमें जा पड़ता है, और कभी धर्मकी जगह मारधाड़ भी कर बैठता है। इससे सत्पुरुषोंने अनुपूर्वीकी योजना की है। यह बहुत सुंदर है और आत्म-शांतिको देनेवाली है।

३७ सामायिकविचार

(१)

आत्म-शक्तिका प्रकाश करनेवाला, सम्यग्दर्शनका उदय करनेवाला, शुद्ध समाधिभावमें प्रवेश करानेवाला, निर्जराका अमूल्य लाभ देनेवाला, राग-द्वेषसे मध्यस्थ बुद्धि करनेवाला सामायिक नामका शिक्षाव्रत है। सामायिक शब्दकी व्युत्पत्ति सम + आय + इक इन शब्दोंसे होती है। 'सम' का अर्थ राग-द्वेष रहित मध्यस्थ परिणाम, 'आय' का अर्थ उस समभावनासे उत्पन्न हुआ ज्ञान दर्शन चारित्ररूप मोक्ष-मार्गका लाभ, और 'इक' का अर्थ भाव होता है। अर्थात् जिसके द्वारा मोक्षके मार्गका लाभदायक भाव उत्पन्न हो, वह सामायिक है। आर्त और रौद्र इन दो प्रकारके ध्यानका त्याग करके मन, वचन और कायके पाप-भावोंको रोककर विवेकी मनुष्य सामायिक करते हैं।

मनके पुद्गल तरंगी हैं। सामायिकमें जब विशुद्ध परिणामसे रहना बताया गया है, उस समय भी यह मन आकाश पातालके घाट घड़ा करता है। इसी तरह भूल, विस्मृति, उन्माद इत्यादिसे वचन और कायमें भी दूषण आनेसे सामायिकमें दोष लगता है। मन, वचन और कायके मिलकर बत्तीस दोष उत्पन्न होते हैं। दस मनके, दस वचनके, और बारह कायके इस प्रकार बत्तीस दोषोंको जानना आवश्यक है, इनके जाननेसे मन सावधान रहता है।

मनके दस दोष कहता हूँ:—

१ अविवेकदोष—सामायिकका स्वरूप नहीं जाननेसे मनमें ऐसा विचार करना कि इससे क्या फल होना था ? इससे तो किसने पार पाया होगा, ऐसे विकल्पोंका नाम अविवेकदोष है।

२ यशोवाछादोष—हम स्वयं सामायिक करते हैं, ऐसा दूसरे मनुष्य जानें तो प्रशंसा करें, ऐसी इच्छासे सामायिक करना वह यशोवाछादोष है।

३ धनवाछादोष—धनकी इच्छासे सामायिक करना धनवाछादोष है।

४ गर्वदोष—मुझे लोग धर्मात्मा कहते हैं और मैं सामायिक भी वैसे ही करता हूँ ऐसा अध्यवसाय होना गर्वदोष है।

५ भयदोष—मैं श्रावक कुलमें जन्मा हूँ, मुझे लोग बड़ा मानकर मान देते हैं यदि मैं सामायिक न करूँ तो लोग कहेंगे कि इतना किया भी नहीं करता, ऐसी निंदाके भयसे सामायिक करना भयदोष है।

६ निदानदोष—सामायिक करके उसके फलसे धन, स्त्री, पुत्र आदि मिलनेकी इच्छा करना निदानदोष है।

७ संशयदोष—सामायिकका फल होगा अथवा नहीं होगा, ऐसा विकल्प करना संशयदोष है।

८ कषायदोष—क्रोध आदिसे सामायिक करने बैठ जाना, अथवा पीछेसे क्रोध, मान, माया, और लोभमें वृत्ति लगाना वह कषायदोष है।

९ अविनयदोष—विनय रहित होकर सामायिक करना अविनयदोष है।

१० अबहुमानदोष—भक्तिभाव और उमंगपूर्वक सामायिक न करना वह अबहुमानदोष है।

३८ सामायिकविचार

(२)

मनके दस दोष कहे, अब वचनके दस दोष कहता हूँ।

१ कुबोलदोष—सामायिकमें कुवचन बोलना वह कुबोलदोष है।

२ सहसात्कारदोष—सामायिकमें साहससे अविचारपूर्वक वाक्य बोलना वह सहसात्कारदोष है।

३ असदारोपणदोष—दूसरोंको खोटा उपदेश देना वह असदारोपणदोष है।

४ निरपेक्षदोष—सामायिकमें शास्त्रकी उपेक्षा करके वाक्य बोलना वह निरपेक्षदोष है।

५ संक्षेपदोष—सूत्रके पाठ इत्यादिको संक्षेपमें बोल जाना, यथार्थ नहीं बोलना वह संक्षेपदोष है।

६ क्लेशदोष—किसीसे झगड़ा करना वह क्लेशदोष है।

७ विकथादोष—चार प्रकारकी विकथा कर बैठना वह विकथादोष है।

८ हास्यदोष—सामायिकमें किसीकी हँसी, मस्करी करना वह हास्यदोष है।

९ अशुद्धदोष—सामायिकमें सूत्रपाठको न्यूनाधिक और अशुद्ध बोलना वह अशुद्धदोष है।

१० मुणमुणदोष—गड़बड़ घोटालेसे सामायिकमें इस तरह पाठका बोलना जो अपने आप भी पूरा मुश्किलसे समझ सकें वह मुणमुणदोष है।

ये वचनके दस दोष कहे, अब कायके बारह दोष कहता हूँ।

१ अयोग्यआसनदोष—सामायिकमें पैरपर पैर चढ़ाकर बैठना, यह श्रीगुरु आदिके प्रति अविनय आसनसे बैठना पहला अयोग्यआसनदोष है।

२ चलासनदोष—डगमगाते हुए आसनपर बैठकर सामायिक करना, अथवा जहाँसे बार बार उठना पड़े ऐसे आसनपर बैठना चलासनदोष है।

३ चलदृष्टिदोष—कायोत्सर्गमें आँखोंका चंचल होना चलदृष्टिदोष है।

४ सावद्यक्रियादोष—सामायिकमें कोई पाप-क्रिया अथवा उसकी संज्ञा करना सावद्यक्रिया-दोष है।

५ आलंबनदोष—भींत आदिका सहारा लेकर बैठना जिससे वहाँ बैठे हुए जीव जंतुओं आदिका नाश हो अथवा उन्हें पीड़ा हो और अपनेको प्रमादकी प्रवृत्ति हो वह आलंबनदोष है।

६ आकुंचनप्रसारणदोष—हाथ पैरका सिकोड़ना, लंबा करना आदि आकुंचनप्रसारणदोष है।

पुत्र—पिताजी! इन्हें अनुक्रमसे लेनेसे यह क्यों नहीं बन सकता?

पिता—यदि ये लोम-विलोम हों तो इन्हें जोड़ते जाना पड़े, और नाम याद करने पड़ें। पाँचका अंक रखनेके बाद दोका अंक आवे तो 'णमो लोए सव्वसाहूणं' के बादमें 'णमो अरिहंताणं' यह वाक्य छोड़कर 'णमो सिद्धाणं' वाक्य याद करना पड़े। इस प्रकार पुनः पुनः लक्ष्यकी दृढ़ता रखनेसे मन एकाग्रता पर पहुँचता है। ये अंक अनुक्रम-बद्ध हों तो ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि उस दशामें विचार नहीं करना पड़ता। इस सूक्ष्म समयमें मन परमेष्ठीमंत्रमेंसे निकलकर संसार-तंत्रकी खटपटमें जा पड़ता है, और कभी धर्मकी जगह मारधाड़ भी कर बैठता है। इससे सत्पुरुषोंने अनुपूर्वीकी योजना की है। यह बहुत सुंदर है और आत्म-शांतिको देनेवाली है।

३७ सामायिकविचार

(१)

आत्म-शक्तिका प्रकाश करनेवाला, सम्यग्दर्शनका उदय करनेवाला, शुद्ध समाधिभावमें प्रवेश करनेवाला, निर्जराका अमूल्य लाभ देनेवाला, राग-द्वेषसे मध्यस्थ बुद्धि करनेवाला सामायिक नामका शिक्षाव्रत है। सामायिक शब्दकी व्युत्पत्ति सम + आय + इक इन शब्दोंसे होती है। 'सम' का अर्थ राग-द्वेष रहित मध्यस्थ परिणाम, 'आय' का अर्थ उस समभावनासे उत्पन्न हुआ ज्ञान दर्शन चारित्ररूप मोक्ष-मार्गका लाभ, और 'इक' का अर्थ भाव होता है। अर्थात् जिसके द्वारा मोक्षके मार्गका लाभदायक भाव उत्पन्न हो, वह सामायिक है। आर्त और रौद्र इन दो प्रकारके ध्यानका त्याग करके मन, वचन और कायके पाप-भावोंको रोककर विवेकी मनुष्य सामायिक करते हैं।

मनके पुद्गल तरंगी हैं। सामायिकमें जब विशुद्ध परिणामसे रहना बताया गया है, उस समय भी यह मन आकाश पातालके घाट घड़ा करता है। इसी तरह भूल, विस्मृति, उन्माद इत्यादिसे वचन और कायमें भी दूषण आनेसे सामायिकमें दोष लगता है। मन, वचन और कायके मिलकर बत्तीस दोष उत्पन्न होते हैं। दस मनके, दस वचनके, और बारह कायके इस प्रकार बत्तीस दोषोंको जानना आवश्यक है, इनके जाननेसे मन सावधान रहता है।

मनके दस दोष कहता हूँ:—

१ अविवेकदोष—सामायिकका स्वरूप नहीं जाननेसे मनमें ऐसा विचार करना कि इससे क्या फल होना था? इससे तो किसने पार पाया होगा, ऐसे विकल्पोंका नाम अविवेकदोष है।

२ यशोवांछादोष—हम स्वयं सामायिक करते हैं, ऐसा दूसरे मनुष्य जानें तो प्रशंसा करें, ऐसी इच्छासे सामायिक करना वह यशोवांछादोष है।

३ धनवांछादोष—धनकी इच्छासे सामायिक करना धनवांछादोष है।

४ गर्वदोष—मुझे लोग धर्मात्मा कहते हैं और मैं सामायिक भी वैसे ही करता हूँ ऐसा अध्यवसाय होना गर्वदोष है।

५ भयदोष—मैं श्रावक कुलमें जन्मा हूँ, मुझे लोग बड़ा मानकर मान देते हैं, यदि मैं सामा- [illegible] सामायिक करना भयदोष है।

६ निदानदोष—सामायिक करके उसके फलसे धन, स्त्री, पुत्र आदि मिलनेकी इच्छा करना निदानदोष है।

७ संशयदोष—सामायिकका फल होगा अथवा नहीं होगा, ऐसा विकल्प करना संशयदोष है।

८ कषायदोष—क्रोध आदिसे सामायिक करने बैठ जाना, अथवा पीछेसे क्रोध, मान, माया, और लोभमें वृत्ति लगाना वह कषायदोष है।

९ अविनयदोष—विनय रहित होकर सामायिक करना अविनयदोष है।

१० अबहुमानदोष—भक्तिभाव और उमंगपूर्वक सामायिक न करना वह अबहुमानदोष है।

३८ सामायिकविचार

(२)

मनके दस दोष कहे, अब वचनके दस दोष कहता हूँ।

१ कुबोलदोष—सामायिकमें कुवचन बोलना वह कुबोलदोष है।

२ सहसात्कारदोष—सामायिकमें साहससे अविचारपूर्वक वाक्य बोलना वह सहसात्कारदोष है।

३ असदारोपणदोष—दूसरोंको खोटा उपदेश देना वह असदारोपणदोष है।

४ निरपेक्षदोष—सामायिकमें शास्त्रकी उपेक्षा करके वाक्य बोलना वह निरपेक्षदोष है।

५ संक्षेपदोष—सूत्रके पाठ इत्यादिको संक्षेपमें बोल जाना, यथार्थ नहीं बोलना वह संक्षेपदोष है।

६ क्लेशदोष—किसीसे झगड़ा करना वह क्लेशदोष है।

७ विकथादोष—चार प्रकारकी विकथा कर बैठना वह विकथादोष है।

८ हास्यदोष—सामायिकमें किसीकी हँसी, मस्खरी करना वह हास्यदोष है।

९ अशुद्धदोष—सामायिकमें सूत्रपाठको न्यूनाधिक और अशुद्ध बोलना वह अशुद्धदोष है।

१० मुणमुणदोष—गड़बड़ घोटालेसे सामायिकमें इस तरह पाठका बोलना जो अपने आप भी पूरा मुश्किलसे समझ सकें वह मुणमुणदोष है।

ये वचनके दस दोष कहे, अब कायके बारह दोष कहता हूँ।

१ अयोग्यआसनदोष—सामायिकमें पैरपर पैर चढ़ाकर बैठना, यह श्रीगुरु आदिके प्रति अविनय आसनसे बैठना पहला अयोग्यआसनदोष है।

२ चलासनदोष—डगमगाते हुए आसनपर बैठकर सामायिक करना, अथवा जहाँसे बार बार उठना पड़े ऐसे आसनपर बैठना चलासनदोष है।

३ चलदृष्टिदोष—कायोत्सर्गमें आँखोंका चंचल होना चलदृष्टिदोष है।

४ सावद्यक्रियादोष—सामायिकमें कोई पाप-क्रिया अथवा उसकी संज्ञा करना सावद्यक्रिया-दोष है।

५ आलम्बनदोष—भींत आदिका सहारा लेकर बैठना जिससे वहाँ बैठे हुए जीव जंतुओं आदिका नाश हो अथवा उन्हें पीड़ा हो और अपनेको प्रमादकी प्रवृत्ति हो वह आलम्बनदोष है।

६ आकुंचनप्रसारणदोष—हाथ पैरका सिकोड़ना, लंबा करना आदि आकुंचनप्रसारणदोष है।

६

७ आलसदोष—अंगका मोड़ना, उँगलियोंका चटकाना आदि आलसदोष है।

८ मोटनदोष—अँगुली वगैरहका टेढ़ी करना, उँगलियोंका चटकाना मोटनदोष है।

९ मलदोष—घसड़ घसड़कर सामायिकमें खुजाकर मैल निकालना मलदोष है।

१० विमासणदोष—गलेमें हाथ डालकर बैठना इत्यादि विमासणदोष है।

११ निद्रादोष—सामायिकमें नींद आना निद्रादोष है।

१२ वस्त्रसंकोचनदोष—सामायिकमें ठंड वगैरेके भयसे वस्त्रसे शरीरका सिकोड़ना वस्त्रसंकोचनदोष है।

इन बत्तीस दोषोंसे रहित सामायिक करना चाहिये। सामायिकके पाँच अतिचारोंको हटाना चाहिये।

३९ सामायिकविचार

(३)

एकाग्रता और सावधानीके बिना इन बत्तीस दोषोंमेंसे कोई न कोई दोष लग जाते हैं। विज्ञानवेत्ताओंने सामायिकका जघन्य प्रमाण दो घड़ी बाँधा है। यह व्रत सावधानीपूर्वक करनेसे परमशांति देता है। बहुतसे लोगोंका जब यह दो घड़ीका काल नहीं बीतता तब वे बहुत व्याकुल होते हैं। सामायिकमें खाली बैठनेसे काल बीत भी कैसे सकता है! आधुनिक कालमें सावधानीसे सामायिक करनेवाले बहुत ही थोड़े लोग हैं। जब सामायिकके साथ प्रतिक्रमण करना होता है, तब तो समय बीतना सुगम होता है। यद्यपि ऐसे पामर लोग प्रतिक्रमणको लक्ष्यपूर्वक नहीं कर सकते, तो भी केवल खाली बैठनेकी अपेक्षा इसमें कुछ न कुछ अन्तर अवश्य पड़ता है। जिन्हें सामायिक भी पूरा नहीं आता, वे बिचारे सामायिकमें बहुत घबड़ाते हैं। बहुतसे भारीकर्मी लोग इस अवसरपर व्यवहारके प्रपंच भी घड़ डालते हैं। इससे सामायिक बहुत दूषित होता है।

सामायिकका विधिपूर्वक न होना इसे बहुत खेदकारक और कर्मकी बाहुल्यता समझना चाहिये। साठ घड़ीके दिनरात व्यर्थ चले जाते हैं। असंख्यात दिनोंसे परिपूर्ण अनंतों कालचक्र व्यतीत करनेपर भी जो सिद्ध नहीं होता, वह दो घड़ीके विशुद्ध सामायिकसे सिद्ध हो जाता है। लक्ष्यपूर्वक सामायिक करनेके लिये सामायिकमें प्रवेश करनेके पश्चात् चार लोगससे अधिक लोगसका कायोत्सर्ग करके चित्तकी कुछ स्वस्थता प्राप्त करनी चाहिये, और बादमें सूत्रपाठ अथवा किसी उत्तम ग्रंथका मनन करना चाहिये। वैराग्यके उत्तम श्लोकोंको पढ़ना चाहिये, पहिलेके अध्ययन किये हुएको स्मरण कर जाना चाहिये और नूतन अभ्यास हो सके तो करना चाहिये, तथा किसीको शास्त्रके आधारसे उपदेश देना चाहिये। इस प्रकार सामायिकका काल व्यतीत करना चाहिये। यदि मुनिराजका समागम हो, तो आगमकी वाणी सुनना और उसका मनन करना चाहिये। यदि ऐसा न हो, और शास्त्रोंका परिचय भी न हो, तो विचक्षण अभ्यासियोंके पास वैराग्य-बोधक उपदेश श्रवण करना चाहिये, अथवा कुछ अभ्यास करना चाहिये। यदि ये सब अनुकूलतायें न हों, तो कुछ भाग ध्यानपूर्वक कायोत्सर्गमें लगाना चाहिये, और कुछ भाग महापुरुषोंकी चरित्र-कथा सुननेमें उपयोगपूर्वक लगाना चाहिये, परन्तु जैसे बने तैसे विवेक और उत्साहसे सामायिकके कालको व्यतीत करना चाहिये। यदि कुछ साहित्य न हो, तो पंचपरमेष्ठीमंत्रका जाप ही उत्साहपूर्वक करना चाहिये। परन्तु कालको व्यर्थ

नहीं गँवाना चाहिये । धीरजसे, शान्तिसे और यतनासे सामायिक करना चाहिये । जैसे बने तैसे सामायिकमें शास्त्रका परिचय बढ़ाना चाहिये ।

साठ घड़ीके अहोरात्रमेंसे दो घड़ी अवश्य बचाकर समायिक तो सद्भावसे करो !

४० प्रतिक्रमणविचार

प्रतिक्रमणका अर्थ पीछे फिरना–फिरसे देख जाना–होता है । भावकी अपेक्षा जिस दिन और जिस वक्त प्रतिक्रमण करना हो, उस वक्तसे पहले अथवा उसी दिन जो जो दोष हुए हों उन्हें एकके बाद एक अंतरात्मासे देख जाना और उनका पश्चात्ताप करके उन दोषोंसे पीछे फिरना इसको प्रतिक्रमण कहते हैं ।

उत्तम मुनि और भाविक श्रावक दिनमें हुए दोषोंका संध्याकालमें और रात्रिमें हुए दोषोंका रात्रिके पिछले भागमें अनुक्रमसे पश्चात्ताप करते हैं अथवा उनकी क्षमा माँगते हैं, इसीका नाम यहाँ प्रतिक्रमण है । यह प्रतिक्रमण हमें भी अवश्य करना चाहिये, क्योंकि यह आत्मा मन, वचन और कायके योगसे अनेक प्रकारके कर्मोंको बाँधती है । प्रतिक्रमण सूत्रमें इसका दोहन किया गया है । जिससे दिनरातमें हुए पापका पश्चात्ताप हो सकता है । शुद्ध भावसे पश्चात्ताप करनेसे इसके द्वारा लेशमात्र पाप भी होनेपर परलोक-भय और अनुकंपा प्रगट होती है, आत्मा कोमल होती है, और त्यागने योग्य वस्तुका विवेक आता जाता है । भगवान्की साक्षीसे अज्ञान आदि जिन जिन दोषोंका विस्मरण हुआ हो उनका भी पश्चात्ताप हो सकता है । इस प्रकार यह निर्जरा करनेका उत्तम साधन है ।

प्रतिक्रमणका नाम आवश्यक भी है । अवश्य ही करने योग्यको आवश्यक कहते हैं; यह सत्य है । उसके द्वारा आत्माकी मलिनता दूर होती है, इसलिये इसे अवश्य करना चाहिये ।

सायंकालमें जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसका नाम 'देवसीयपडिक्कमण' अर्थात् दिवस संबंधी पापोंका पश्चात्ताप है, और रात्रिके पिछले भागमें जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसे 'राइयपडिक्कमण' कहते हैं । 'देवसीय' और 'राइय' ये प्राकृत भाषाके शब्द हैं । पक्षमें किये जानेवाले प्रतिक्रमणको पाक्षिक, और संवत्सरमें किये जानेवालेको सांवत्सरिक (छमछरी) प्रतिक्रमण कहते हैं । सत्पुरुषोंकी योजना द्वारा बाँधा हुआ यह सुंदर नियम है ।

बहुतसे सामान्य बुद्धिके लोग ऐसा कहते हैं, कि दिन और रात्रिका इकट्ठा प्रायश्चित्तरूप प्रतिक्रमण सबेरे किया जाय तो कोई बुराई नहीं । परन्तु ऐसा कहना प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि यदि रात्रिमें अकस्मात् कोई कारण आ जाय, अथवा मृत्यु हो जाय, तो दिनका प्रतिक्रमण भी रह जाय ।

प्रतिक्रमण-सूत्रकी योजना बहुत सुंदर है । इसका मूल तत्त्व बहुत उत्तम है । जैसे बने तैसे प्रतिक्रमण धीरजसे, समझमें आ सकनेवाली भाषासे, शांतिसे, मनकी एकाग्रतासे और यतनापूर्वक करना चाहिये ।

४१ भिखारीका खेद

(१)

एक पामर भिखारी जंगलमें भटकता फिरता था । वहाँ उसे भूख लगी । वह बिचारा लड़खड़ाता हुआ एक नगरमें एक सामान्य मनुष्यके घर पहुँचा । वहाँ जाकर उसने अनेक प्रकारसे प्रार्थना

की। उसकी प्रार्थनापर करुणा करके उस गृहस्थकी स्त्रीने उसको घरमे जीमनेसे बचा हुआ मिष्टान्न ला कर दिया। भोजनके मिलनेसे भिखारी बहुत आनंदित होता हुआ नगरके बाहर आया, और एक वृक्षके नीचे बैठ गया। वहाँ ज़रा साफ़ करके उसने एक तरफ़ अत्यन्त पुराना अपना पानीका घड़ा रख दिया। एक तरफ अपनी फटी पुरानी मैली गूदड़ी रखी, और दूसरी तरफ वह स्वयं उस भोजनको लेकर बैठा। खुशी खुशीके साथ उसने उस भोजनको खाकर पूरा किया। तत्पश्चात् सिराने एक पत्थर रखकर वह सो गया। भोजनके मदसे ज़रा देरमें भिखारीकी आँखें मिंच गईं। वह निद्राके वश हुआ। इतनेमें उसे एक स्वप्न आया। उसे ऐसा लगा कि उसने मानो महा राजऋद्धिको प्राप्त कर लिया है, सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये हैं, समस्त देशमें उसकी विजयका डंका बज गया है, समीपमें उसकी आज्ञा उठानेके लिये अनुचर लोग खड़े हुए हैं, आस-पासमें छड़ीदार क्षेम क्षेम पुकार रहे हैं। वह एक रमणीय महलमें सुन्दर पलंगपर लेटा हुआ है, देवांगना जैसी स्त्रियाँ उसके पैर दबा रही हैं, एक तरफसे पंखेकी मंद मंद पवन ढुल रही है। इस स्वप्नमें भिखारीकी आत्मा चढ़ गई। उस स्वप्नका भोग करते हुए वह रोमांचित हो गया। इतनेमें मेघ महाराज चढ़ आये, बिजली चमकने लगी, सूर्य बादलोंमें ढँक गया, सब जगह अंधकार फैल गया। ऐसा मालूम हुआ कि मूसलधार वर्षा होगी, और इतनेमें बिजलीकी गर्जनासे एक ज़ोरका कड़ाका हुआ। कड़ाकेकी आवाज़से भयभीत होकर वह पामर भिखारी जाग उठा।

४२ भिखारीका खेद

(२)

तो देखता क्या है कि जिस जगहपर पानीका फूटा हुआ घड़ा पड़ा था, उसी जगह वह पड़ा हुआ है; जहाँ फटी पुरानी गूदड़ी पड़ी थी वह वहीं पड़ी है; उसने जैसे मैले और फटे हुए कपड़े पहने थे, वैसेके वैसे ही वे वस्त्र उसके शरीरके ऊपर हैं। न तिलभर कुछ बढ़ा, और न रत्तीभर घटा; न वह देश, न वह नगरी; न वह महल, न वह पलंग; न वे चामर छत्र ढोलनेवाले और न वे छड़ीदार; न वे स्त्रियाँ और न वे वस्त्रालंकार; न वह पंखा और न वह पवन; न वे अनुचर और न वह आज्ञा, न वह सुखविलास और न वह मदोन्मत्तता। बिचारा वह तो स्वयं जैसा था वैसा का वैसा ही दिखाई दिया। इस कारण इस दृश्यको देखकर उसे खेद हुआ। स्वप्नमें मैंने मिथ्या आडंबर देखा और इससे आनंद माना, परन्तु उसमें का तो यहाँ कुछ भी नहीं। मैंने [illegible] हूँ। इस प्रकार वह पामर [illegible]

[illegible] । इस तरह भिखारीने स्वप्नमें [illegible] सुख समझकर आनंद [illegible] संसारके सुख [illegible] प्राप्त हुए, वैसे ही [illegible] है। परन्तु परिणाममें

वे खेद, दुर्गति और पश्चात्ताप ही प्राप्त करते हैं। भोगोंके चपल और विनाशीक होनेके कारण स्वप्नके खेदके समान उनका परिणाम होता है। इसके ऊपरसे बुद्धिमान् पुरुष आत्म-हितको खोजते हैं। संसारकी अनित्यताके ऊपर एक काव्य है:—

उपजाति

विद्युत् लक्ष्मी प्रभुता पतंग, आयुष्य ते तो जळना तरंग,
पुरंदरी चाप अनंगरंग, शुं राचिये त्यां क्षणनो प्रसंग !

विशेषार्थः—लक्ष्मी बिजलीके समान है। जैसे बिजलीकी चमक उत्पन्न होकर विलीन हो जाती है, उसी तरह लक्ष्मी आकर चली जाती है। अधिकार पतंगके रंगके समान है। जैसे पतंगका रंग चार दिनकी चाँदनी है, वैसे ही अधिकार केवल थोड़े काल तक रहकर हाथमेंसे जाता रहता है। आयु पानीकी लहरोंके समान है। जैसे पानीकी हिलोरें इधर आईं कि उधर निकल गईं, इसी तरह जन्म पाया, और एक देहमें रहने पाया अथवा नहीं, कि इतने होमें इसे दूसरी देहमें जाना पड़ता है। काम-भोग आकाशमें उत्पन्न हुए इन्द्र-धनुषके समान हैं। जैसे इंद्र-धनुष वर्षाकालमें उत्पन्न होकर क्षण-भरमें विलीन हो जाता है, उसी तरह यौवनमें कामके विकार फलीभूत होकर जरा-वयमें जाते रहते हैं। संक्षेपमें, हे जीव ! इन समस्त वस्तुओंका संबंध क्षणभरका है। इसमें प्रेम-बंधनकी साँकलसे बँधकर मग्न क्या होना ! तात्पर्य यह है, कि ये सब चपल और विनाशीक हैं, तू अखंड और अविनाशी है, इसलिये अपने जैसी वस्तुको प्राप्त कर, यही उपदेश यथार्थ है।

४३ अनुपम क्षमा

क्षमा अंतर्शत्रुको जीतनेमें खड्ग है; पवित्र आचारकी रक्षा करनेमें बख्तर है। शुद्ध भावसे असह्य दुःखमें सम परिणामसे क्षमा रखनेवाला मनुष्य भव-सागरसे पार हो जाता है।

कृष्ण वासुदेवका गजसुकुमार नामका छोटा भाई महास्वरूपवान और सुकुमार था। वह केवल बारह वर्षकी वयमें भगवान् नेमिनाथके पास संसार-त्यागी होकर स्मशानमें उग्र ध्यानमें अवस्थित था। उस समय उसने एक अद्भुत क्षमामय चरित्रसे महासिद्धि प्राप्त की उसे मैं यहाँ कहता हूँ।

सोमल नामके ब्राह्मणकी सुन्दरवर्णसंपन्न पुत्रीके साथ गजसुकुमारकी सगाई हुई थी। परन्तु विवाह होनेके पहले ही गजसुकुमार संसार त्याग कर चले गये। इस कारण अपनी पुत्रीके सुखके नाश होनेके द्वेषसे सोमल ब्राह्मणको भयंकर क्रोध उत्पन्न हुआ। वह गजसुकुमारकी खोज करते करते उस स्मशानमें आ पहुँचा, जहाँ महा मुनि गजसुकुमार एकाग्र विशुद्ध भावसे कायोत्सर्गमें लीन थे। सोमलने कोमल गजसुकुमारके सिरपर चिकनी मिट्टीकी बाड़ बना कर इसके भीतर धधकते हुए अंगारे भरे, और इसे ईंधनसे पूर दिया। इस कारण गजसुकुमारको महाताप उत्पन्न हुआ। जब गजसुकुमारकी कोमल देह जलने लगी, तब सोमल वहाँसे चल दिया। उस समयके गजसुकुमारके असह्य दुःखका वर्णन कैसे हो सकता है ! फिर भी गजसुकुमार समभाव परिणामसे रहे। उनके हृदयमें कुछ भी क्रोध अथवा द्वेष उत्पन्न नहीं हुआ। उन्होंने अपनी आत्माको स्थितिस्थापक दशामें लाकर यह उपदेश दिया, कि देख यदि तूने इस ब्राह्मणकी पुत्रीके साथ विवाह किया होता तो यह कन्या-दानमें तुझे पगड़ी देता। यह पगड़ी थोड़े दिनोंमें फट जाती और अन्तमें दुःखदायक होती। किन्तु यह इसका बहुत बड़ा उपकार हुआ, कि इस पगड़ीके बदले इसने मोक्षकी पगड़ी बाँध दी। ऐसे विशुद्ध परिणामोंसे अडग रहकर समभावसे असह्य

वेदना सहकर गजसुकुमारने सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर अनंतजीवन सुखको पाया । कैसी अनुपम क्षमा और कैसा उसका सुंदर परिणाम ! तत्त्वज्ञानियोंका कथन है कि आत्माओंको केवल अपने सद्भावमें आना चाहिये, और आत्मा अपने सद्भावमें आयी कि मोक्ष हथेलीमें ही है । गजसुकुमारकी प्रसिद्ध क्षमा कैसी शिक्षा देती है !

४४ राग

श्रमण भगवान् महावीरके मुख्य गणधर गौतमका नाम तुमने बहुत बार सुना है । गौतमस्वामीके उपदेश किये हुए बहुतसे शिष्योंके केवलज्ञान पानेपर भी स्वयं गौतमको केवलज्ञान न हुआ; क्योंकि भगवान् महावीरके अंगोपांग, वर्ण, रूप इत्यादिके ऊपर अब भी गौतमको मोह था । निर्ग्रंथ प्रवचनका निष्पक्षपाती न्याय ऐसा है कि किसी भी वस्तुका राग दुःखदायक होता है । राग ही मोह है और मोह ही ससार है । गौतमके हृदयसे यह राग जबतक दूर न हुआ तबतक उन्हें केवलज्ञानकी प्राप्ति न हुई । श्रमण भगवान् ज्ञातपुत्रने जब अनुपमेय सिद्धि पाई उस समय गौतम नगरमेंसे आ रहे थे । भगवान्‌के निर्वाण समाचार सुनकर उन्हें खेद हुआ । विरहसे गौतमने ये अनुरागपूर्ण वचन कहे " हे महावीर ! आपने मुझे साथ तो न रक्खा, परन्तु मुझे याद तक भी न किया । मेरी प्रीतिके सामने आपने दृष्टि भी नहीं की, ऐसा आपको उचित न था । " ऐसे विकल्प होते होते गौतमका लक्ष फिरा और वे निराग-श्रेणी चढ़े । " मैं बहुत मूर्खता कर रहा हूँ । ये वीतराग, निर्विकारी और रागहीन हैं, वे मुझपर मोह कैसे रख सकते हैं ! उनकी शत्रु और मित्रपर एक समान दृष्टि थी । मैं इन रागहीनका मिथ्या मोह रखता हूँ । मोह ससारका प्रबल कारण है । " ऐसे विचारते विचारते गौतम शोकको छोड़कर राग रहित हुए । तत्क्षण ही गौतमको अनंतज्ञान प्रकाशित हुआ और वे अन्तमें निर्वाण पधारे ।

गौतम मुनिका राग हमें बहुत सूक्ष्म उपदेश देता है । भगवान्‌के ऊपरका मोह गौतम जैसे गणधरको भी दुःखदायक हुआ तो फिर संसारका और उसमे भी पामर आत्माओंका मोह कैसा अनन्त दुःख देता होगा ! ससाररूपी गाड़ीके राग और द्वेष रूपी दो बैल हैं । यदि ये न हों, तो संसार अटक जाय । जहाँ राग नहीं वहाँ द्वेष भी नहीं, यह माना हुआ सिद्धांत है । राग तीव्र कर्मबंधका कारण है और इसके क्षयसे आत्म-सिद्धि है ।

४५ सामान्य मनोरथ

मोहिनीभावके विचारोंके अधीन होकर नयनोंसे परनारीको न देखूँ; निर्मल तात्त्विक लोभको पैदाकर दूसरेके वैभवको पत्थरके समान समझूँ । बारह व्रत और दीनता धारण करके स्वरूपको विचारकर सात्त्विक बनूँ । यह मेरा सदा क्षेम करनेवाला और भवका हरनेवाला नियम नित्य अखंड रहे ॥ १ ॥

---

४५ सामान्य मनोरथ

सवैया

मोहिनीभाव विचार अधीन थई, ना निरखु नयने परनारी,
पथ्थरतुल्य गणु परवैभव, निर्मळ तात्त्विक लोभ समारी ।
द्वादशव्रत अने दीनता धरि, सात्त्विक थाऊ स्वरूप विचारी
ए मुज नेम सदा शुभ क्षेमक नित्य अखंड रहो भवहारी ॥ १ ॥

उन त्रिशलातनयको मनसे चिंतवन करके, ज्ञान, विवेक और विचारको बढ़ाऊँ; नित्य नौ तत्त्वोंका विशोधन करके अनेक प्रकारके उत्तम उपदेशोंका मुखसे कथन करूँ; जिससे संशयरूपी बीजका मनके भीतर उदय न हो ऐसे जिन भगवान्‌के कथनका सदा अवधारण करूँ। हे रायचन्द्र, सदा मेरा यही मनोरथ है, इसे धारणकर, मोक्ष मिलेगा ॥ २ ॥

४६ कपिलमुनि

(१)

कौसांबी नामकी एक नगरी थी। वहाँके राजदरबारमें राज्यका आभूषणरूप काश्यप नामका एक शास्त्री रहता था। इसकी स्त्रीका नाम नाम श्रीदेवी था। उसके उदरसे कपिल नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। कपिल जब पन्द्रह वर्षका हुआ उस समय उसका पिता परलोक सिधारा। कपिल लाड़ प्यारमें पाले जानेके कारण कोई विशेष विद्वत्ता प्राप्त न कर सका, इसलिये इसके पिताकी जगह किसी दूसरे विद्वान्‌को मिली। काश्यप शास्त्री जो पूँजी कमाकर रख गया था, उसे कमानेमें अशक्त कपिलने खाकर पूरी कर डाली। श्रीदेवी एक दिन घरके द्वारपर खड़ी थी कि इतनेमें उसने दो चार नौकरों सहित अपने पतिकी शास्त्रीय पदवीपर नियुक्त विद्वान्‌को उधरसे जाता हुआ देखा। बड़े मानसे जाते हुए इस शास्त्रीको देखकर श्रीदेवीको अपनी पूर्वस्थितिका स्मरण हो आया। जिस समय मेरा पति इस पदवीपर था, उस समय मैं कैसा सुख भोगती थी! यह मेरा सुख गया सो गया, परन्तु मेरा पुत्र भी पूरा नहीं पढ़ा। ऐसे विचारमें घूमते घूमते उसकी आँखोंमेंसे पट पट आँसू गिरने लगे। इतनेमें फिरते फिरते वहाँ कपिल आ पहुँचा। श्रीदेवीको रोती हुई देखकर कपिलने रोनेका कारण पूँछा। कपिलके बहुत आग्रहसे श्रीदेवीने जो बात थी वह कह दी। फिर कपिलने कहा, "देख माँ! मैं बुद्धिशाली हूँ, परन्तु मेरी बुद्धिका उपयोग जैसा चाहिये वैसा नहीं हो सका। इसलिये विद्याके विना मैंने यह पदवी नहीं प्राप्त की। अब तू जहाँ कहे मैं वहाँ जाकर अपनेसे बनती विद्याको सिद्ध करूँ।" श्रीदेवीने खेदसे कहा, "यह तुझसे नहीं हो सकता, अन्यथा आर्यावर्तकी सीमापर स्थित श्रावस्ति नगरीमें इन्द्रदत्त नामका तेरे पिताका मित्र रहता है, वह अनेक विद्यार्थियोंको विद्यादान देता है। यदि तू वहाँ जा सके तो इष्टकी सिद्धि अवश्य हो।" एक दो दिन रुककर सब तैयारी कर 'अस्तु' कहकर कपिलजीने रास्ता पकड़ा।

अवधि बीतनेपर कपिल श्रावस्तीमें शास्त्रीजीके घर आ पहुँचे। उन्होंने प्रणाम करके शास्त्रीजीको अपना इतिहास कह सुनाया। शास्त्रीजीने अपने मित्रके पुत्रको विद्यादान देनेके लिये बहुत आनंद दिखाया; परन्तु कपिलके पास कोई पूँजी न थी, जिसमें वह उसमेंसे खाता और अभ्यास कर सकता। इस कारण उसे नगरमें माँगनेके लिये जाना पड़ता था। माँगते माँगते उसे दुपहर हो जाता था, बादमें वह रसोई करता, और भोजन करनेतक साझ होनेमें कुछ ही देर बाकी रह जाता था। इस कारण वह

कुछ अभ्यास नहीं कर सकता था। पंडितजीने अभ्यास न करनेका कारण पूँछा, तो कपिलने सब कह दिया। पंडितजी कपिलको एक गृहस्थके पास ले गये। उस गृहस्थने कपिलपर अनुकंपा करके एक विधवा ब्राह्मणीके घर इसे हमेशा भोजन मिलते रहनेकी व्यवस्था कर दी। उससे कपिलकी एक चिन्ता कम हुई।

४७ कपिलमुनि

(२)

जहाँ एक छोटी चिंता कम हुई, वहाँ दूसरी बड़ी जंजाल खड़ी हो गई। भोला कपिल अब युवा हो गया था, और जिस विधवाके घर वह भोजन करने जाता था वह विधवा बाई भी युवती थी। विधवाके साथ उसके घरमें दूसरा कोई आदमी न था। हमेशाकी परस्परकी बातचीतसे दोनोंमें संबंध बढ़ा, और बढ़कर हास्य विनोदरूपमें परिणत हो गया। इस प्रकार होते होते दोनोंमें गाढ़ प्रीति बँधी। कपिल उसमें लुब्ध हो गया। एकांत बहुत अनिष्ट चीज है।

कपिल विद्या प्राप्त करना भूल गया। गृहस्थकी तरफसे मिलने वाले सीदेसे दोनोंका मुश्किलसे निर्वाह होता था; कपड़े लत्तेकी भी बाधा होने लगी। कपिल गृहस्थाश्रम जैसा बना बैठे थे। कुछ भी हो, फिर भी लघुकर्मी जीव होनेसे कपिलको संसारके विशेष प्रपंचकी खबर भी न थी। इसलिये पैसा कैसे पैदा करना इस बातको वह बिचारा जानता भी न था। चंचल स्त्रीने उसे रास्ता बताया कि घबड़ानेसे कुछ न होगा, उपायसे सिद्धि होती है। इस गाँवके राजाका ऐसा नियम है, कि सबेरे सबसे पहले जाकर जो ब्राह्मण उसे आशीर्वाद दे, उसे दो माशे सोना मिलेगा। यदि तुम वहाँ जा सको और पहले आशीर्वाद दे सको तो यह दो मासा सोना मिल सकता है। कपिलने इस बातको स्वीकार की। कपिलने आठ दिनतक धक्के खाये परन्तु समय बीत जानेपर पहुँचनेसे उसे कुछ सफलता न मिलती थी। एक दिन उसने ऐसा निश्चय किया, कि यदि मैं चौकमें सोऊँ तो चिन्ताके कारण उठ बैठूँगा। वह चौकमें सोया। आधी रात बीतनेपर चन्द्रका उदय हुआ। कपिल प्रभात समीप जान मुट्ठी बाँधकर आशीर्वाद देनेके लिये दौड़ते हुए जाने लगा। रक्षपालने उसे चोर जानकर पकड़ लिया। लेनेके देने पड़ गये। प्रभात हुआ, रक्षपालने कपिलको ले जाकर राजाके समक्ष खड़ा किया। कपिल बेसुध जैसा खड़ा रहा। राजाको उसमें चोरके लक्षण दिखाई नहीं दिये। इसलिये राजाने सब वृत्तान्त पूँछा। चन्द्रके प्रकाशको सूर्यके समान गिननेवालेके भोलेपनपर राजाको दया आई। उसकी दरिद्रताको दूर करनेकी राजाकी इच्छा हुई इसलिये उसने कपिलसे कहा कि यदि आशीर्वादके कारण तुझे इतनी अधिक झंझट करनी पड़ी है तो अब तू अपनी इच्छानुसार माग ले। मैं तुझे दूँगा। कपिल थोड़ी देर तक मूढ़ जैसा हो गया। इससे राजाने कहा, क्यों विप्र! मागते क्यों नहीं? कपिलने उत्तर दिया, मेरा मन अभी स्थिर नहीं हुआ, इसलिये क्या माँगू यह नहीं सूझता। राजाने सामनेके बागमें जाकर वहाँ बैठकर स्वस्थतापूर्वक विचार करके कपिलको मागनेके लिये कहा। कपिल बागमें जाकर विचार करने लगा।

४८ कपिलमुनि

(३)

जिसे दो माशा सोना लेनेकी इच्छा थी वह कपिल अब तृष्णाकी तरंगोंमें बह गया। जब उसने पाँच मोहरें माँगनेकी इच्छा की तो उसे विचार आया कि पाँच मोहरोंसे कुछ पूरा नहीं होगा। इसलिये पच्चीस मोहरें माँगना ठीक है। यह विचार भी बदला। पच्चीस मोहरोंसे कुछ पूरा वर्ष नहीं कटेगा, इसलिये सौ मोहरें माँगना चाहिये। यह विचार भी बदला। सौ मोहरोंसे दो वर्ष तक वैभव भोगेंगे, फिर दुःखका दुःख ही है। अतएव एक हजार मोहरोंकी याचना करना ठीक है। परन्तु एक हजार मोहरें, बाल-बच्चोंके दो चार खर्च आये, कि खतम हो जायँगी, तो पूरा भी क्या पड़ेगा। इसलिये दस हजार मोहरें माँगना ठीक है, जिससे कि जिन्दगी भर भी चिंता न हो। यह भी इच्छा बदली। दस हजार मोहरें खा जानेके बाद फिर पूँजीके बिना रहना पड़ेगा। इसलिये एक लाख मोहरोंकी माँगनी करूँ कि जिसके व्याजमें समस्त वैभवको भोग सकूँ। परन्तु हे जीव! लक्षाधिपति तो बहुत हैं, इसमें मैं प्रसिद्ध कहाँसे हो सकता हूँ। अतएव करोड़ मोहरें माँगना ठीक है, कि जिससे मैं महान् श्रीमन्त कहा जाऊँ। फिर पीछे रंग बदला। महान् श्रीमंतपनेसे भी घरपर अमलदारी नहीं कही जा सकती। इसलिये राजाका आधा राज्य माँगना ठीक है। परन्तु यदि मैं आधा राज्य माँगूगा तो राजा मेरे तुल्य गिना जावेगा और इसके सिवाय मैं उसका याचक भी गिना जाऊँगा। इसलिये माँगना तो फिर समस्त राज्य ही माँगना चाहिये। इस तरह कपिल तृष्णामें डूबा। परन्तु वह था तुच्छ संसारी, इससे फिरसे पीछे लौटा। भला जीव! ऐसी कृतघ्नता क्यों करनी चाहिये कि जो तेरी इच्छानुसार देनेके लिये तत्पर हो, उसका ही राज्य ले लूँ और उसे ही भ्रष्ट करूँ। वास्तवमें देखनेसे तो इसमें अपनी ही भ्रष्टता है। इसलिये आधा राज्य माँगना ठीक है। परन्तु इस उपाधिकी भी मुझे आवश्यकता नहीं। फिर रुपये पैसेकी उपाधि ही क्या है! इसलिये करोड़ लाख छोड़कर सौ दोसौ मोहरें ही माँग लेना ठीक है। जीव! सौ दोसौ मोहरें मिलेंगी तो फिर विषय वैभवमें ही समय चला जायगा, और विद्याभ्यास भी धरा रहेगा। इसलिये अब पाँच मोहरें ले लो, पीछेकी बात पीछे। अरे! पाँच मोहरोंकी भी अभी हालमें अब कोई आवश्यकता नहीं। तू केवल दो माशा सोना लेने आया था उसे ही माँग ले। जीव! यह तो बहुत हुई। तृष्णा-समुद्रमें तूने बहुत डुबकियाँ लगाईं। समस्त राज्य माँगनेसे भी जो तृष्णा नहीं बुझती थी उसे केवल संतोष और विवेकसे घटाया तो घटी। यह राजा यदि चक्रवर्ती होता, तो फिर मैं इससे विशेष क्या माँग सकता था और विशेष जबतक न मिलता तबतक मेरी तृष्णा भी शान्त न होती। जबतक तृष्णा शान्त न होती, तबतक मैं सुखी भी न होता। जब इतनेसे यह मेरी तृष्णा शान्त न हुई तो [illegible]

हैं। इस कारण इसका त्याग करना ही उचित है। सत्य संतोषके समान निरुपाधिक सुख एक भी नहीं। ऐसे विचारते विचारते, तृष्णाके शमन करनेसे उस कपिलके अनेक आवरणोंका क्षय हुआ, उसका अंतःकरण प्रफुल्लित और बहुत विवेकशील हुआ। विवेक विवेकमें ही उत्तम ज्ञानसे वह अपनी आत्माका विचार कर सका। उसने अपूर्व श्रेणी चढ़कर केवलज्ञानको प्राप्त किया।

तृष्णा कैसी कनिष्ठ वस्तु है! ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि तृष्णा आकाशके समान अनंत है, वह निरंतर नवयौवनमें रहती है। अपनी चाह जितना कुछ मिला कि उससे चाह और भी बढ़ जाती है। संतोष ही कल्पवृक्ष है, और यही प्रत्येक मनोवांछाको पूर्ण करता है।

४९ तृष्णाकी विचित्रता

(एक गरीबकी बढ़ती हुई तृष्णा)

जिस समय दीनताई थी उस समय ज़मीदारी पानेकी इच्छा हुई, जब ज़मीदारी मिली तो सेठाई पानेकी इच्छा हुई, जब सेठाई प्राप्त हो गई तो मंत्री होनेकी इच्छा हुई, जब मंत्री हुआ तो राजा बननेकी इच्छा हुई। जब राज्य मिला, तो देव बननेकी इच्छा हुई, जब देव हुआ तो महादेव होनेकी इच्छा हुई। अहो राजचन्द्र! वह यदि महादेव भी हो जाय तो भी तृष्णा तो बढ़ती ही जाती है, मरती नहीं, ऐसा मानो ॥ १ ॥

मुँहपर झुर्रियाँ पड़ गईं, गाल पिचक गये, काली केशकी पट्टियाँ सफेद पड़ गईं; सूँघने, सुनने और देखनेकी शक्तियाँ जाती रहीं, और दाँतोंकी पंक्तियाँ गिर गईं अथवा घिस गईं, कमर टेढ़ी हो गई, हाड़-मांस सूख गये, शरीरका रंग उड़ गया, उठने बैठनेकी शक्ति जाती रही, और चलनेमें हाथमें लकड़ी लेनी पड़ गई। अरे! राजचन्द्र, इस तरह युवावस्थासे हाथ धो बैठे, परन्तु फिर भी मनसे यह रांड ममता नहीं मरी ॥ २ ॥

करोड़ोंके कर्जका सिरपर डंका बज रहा है, शरीर सूखकर रोगसे रुँध गया है, राजा भी पीड़ा देनेके लिये मौका तक रहा है और पेट भी पूरी तरहसे नहीं भरा जाता। उसपर माता पिता और

---

४९ तृष्णानी विचित्रता

(एक गरीबनी वधेली गयेली तृष्णा)

मनहर छंद

हती दीनताई त्यारे ताकी पटेलाई अने, मळी पटेलाई त्यारे ताकी छे शेठाईने;
सांपडी शेठाई त्यारे ताकी मंत्रिताई अने, आवी मंत्रिताई त्यारे ताकी नृपताईने।
मळी नृपताई त्यारे ताकी देवताई अने, दीठी देवताई त्यारे ताकी शंकराईने,
अहो! राजचन्द्र मानो मानो शंकराई मळी, वधे तृष्णाई तोय जाय न मराईने ॥ १ ॥

[illegible]

स्त्री अनेक प्रकारकी उपाधि मचा रहे हैं, दुःखदायी पुत्र और पुत्री खाऊँ खाऊँ कर रहे हैं। अरे रायचन्द्र ! तो भी यह जीव उधेड़ बुन किया ही करता है और इससे तृष्णाको छोड़कर जंजाल नहीं छोड़ी जाती ॥ ३ ॥

नाड़ी क्षीण पड़ गई, अवाचककी तरह पड़ रहा, और जीवन-दीपक निस्तेज पड़ गया। एक भाईने इसे अंतिम अवस्थामें पड़ा देखकर यह कहा, कि अब इस विचारेकी मिट्टी ठंडी हो जाय तो ठीक है। इतने पर उस बुड्ढेने खीजकर हाथको हिलाकर इशारेसे कहा, कि हे मूर्ख! चुप रह, तेरी चतुराईपर आग लगे। अरे रायचन्द्र ! देखो देखो, यह आशाका पाश कैसा है ! मरते मरते भी बुड्ढेकी ममता नहीं मरी ॥ ४ ॥

५० प्रमाद

धर्मका अनादर, उन्माद, आलस्य, और कषाय ये सब प्रमादके लक्षण हैं।

भगवान्‌ने उत्तराध्ययनसूत्रमें गौतमसे कहा है, कि हे गौतम ! मनुष्यकी आयु कुशकी नोक-पर पड़ी हुई जलके बून्दके समान है। जैसे इस बून्दके गिर पड़नेमें देर नहीं लगती, उसी तरह इस मनुष्य-आयुके बीतनेमें देर नहीं लगती। इस उपदेशकी गाथाकी चौथी कड़ी स्मरणमें अवश्य रखने योग्य है—' **समयं गोयम मा पमायए** '। इस पवित्र वाक्यके दो अर्थ होते हैं। एक तो यह, कि हे गौतम ! समय अर्थात् अवसर पाकरके प्रमाद नहीं करना चाहिये; और दूसरा यह कि क्षण क्षणमें बीतते जाते हुए कालके असंख्यातवें भाग अर्थात् एक समयमात्रका भी प्रमाद न करना चाहिये, क्योंकि देह क्षणभंगुर है। काल शिकारी सिरपर धनुष बाण चढ़ाकर खड़ा है। उसने शिकारको लिया अथवा लेगा बस यही दुविधा हो रही है। वहाँ प्रमाद करनेसे धर्म-कर्तव्य रह जायगा।

अति विचक्षण पुरुष संसारकी सर्वोपाधि त्याग कर दिन रात धर्ममें सावधान रहते हैं, और पलभर भी प्रमाद नहीं करते। विचक्षण पुरुष अहोरात्रके थोड़े भागको भी निरंतर धर्म-कर्तव्यमें बिताते हैं, और अवसर अवसरपर धर्म-कर्तव्य करते रहते हैं। परन्तु मूढ़ पुरुष निद्रा, आहार, मौज, शौक, विकथा तथा राग रंगमें आयु व्यतीत कर डालते हैं। वे इसके परिणाममें अधोगति पाते हैं।

जैसे बने तैसे यतना और उपयोगसे धर्मका साधन करना योग्य है। साठ घड़ीके अहोरात्रमें बीस घड़ी तो हम निद्रामें बिता देते हैं। बाकीकी चालीस घड़ी उपाधि, गप शप, और इधर उधर भटकनेमें बिता देते हैं। इसकी [illegible] इन साठ घड़ीके वक्तमेंसे दो चार घड़ी विशुद्ध धर्म-कर्तव्यके लिये [illegible] [illegible] है। इसका परिणाम भी कैसा सुन्दर हो !

[illegible]

इनका यह धर्मतीर्थ चल रहा है। यह २१,००० वर्ष अर्थात् पंचमकालके पूर्ण होनेतक चलेगा, ऐसा भगवतीसूत्रमें कहा है।

इस कालके दस आश्चर्योंसे युक्त होनेके कारण इस श्रीधर्म-तीर्थके ऊपर अनेक विपत्तियाँ आई है, आती है, और आवेंगी।

जैन-समुदायमें परस्पर बहुत मतभेद पड़ गये है। ये मतभेद परस्पर निंदा-ग्रन्थोंके द्वारा जंजाल फैला बैठे हैं। मध्यस्थ पुरुष मत मतांतरमें न पड़कर विवेक विचारसे जिन भगवान्की शिक्षाके मूल तत्त्वपर आते है, उत्तम शीलवान मुनियोंपर भक्ति रखते हैं, और सत्य एकाग्रतासे अपनी आत्माका दमन करते हैं।

कालके प्रभावके कारण समय समयपर शासन कुछ न्यूनाधिक रूपमें प्रकाशमें आता है।

'वक्कजडा य पच्छिमा' यह उत्तराध्ययनसूत्रका वचन है। इसका भावार्थ यह है कि अंतिम तीर्थंकर (महावीरस्वामी) के शिष्य वक्र और जड़ होंगे। इस कथनकी सत्यताके विषयमें किसीको बोलनेकी गुंजायश नहीं है। हम तत्त्वका कहाँ विचार करते हैं ? उत्तम शीलका कहाँ विचार करते है ? नियमित वक्तको धर्ममें कहाँ व्यतीत करते हैं ? धर्मतीर्थके उदयके लिये कहाँ लक्ष रखते हैं ? लगनसे कहाँ धर्म-तत्त्वकी खोज करते है ? श्रावक कुलमें जन्म लेनेके कारण ही श्रावक कहे जाते हैं, यह बात हमें भावकी दृष्टिसे मान्य नहीं करनी चाहिये। इसलिये आवश्यक आचार-ज्ञान-खोज अथवा इनमेंसे जिसके कोई विशेष लक्षण हों, उसे श्रावक मानें तो वह योग्य है। अनेक प्रकारकी द्रव्य आदि सामान्य दया श्रावकके घरमें पैदा होती है और वह इस दयाको पालता भी है, यह बात प्रशंसा करने योग्य है। परन्तु तत्त्वको कोई विरले ही जानते हैं। जाननेकी अपेक्षा बहुत शंका करनेवाले अर्धदग्ध भी हैं; जानकर अहंकार करनेवाले भी हैं। परन्तु जानकर तत्त्वके काँटेमें तोलनेवाले कोई विरले ही हैं। परम्पराकी आम्नायसे केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और परम अवधिज्ञान विच्छेद हो गये। दृष्टिवादका विच्छेद है, और सिद्धांतका बहुतसा भाग भी विच्छेद हो गया है। केवल थोड़े बचे भागपर सामान्य बुद्धिसे शंका करना योग्य नहीं। जो शंका हो उसे विशेष जाननेवालेसे पूछना चाहिये। वहाँसे संतोषजनक उत्तर न मिले तो भी जिनवचनकी श्रद्धामें चल-विचल करना योग्य नहीं, क्योंकि अनेकांत शैलीके स्वरूपको विरले ही जानते है।

भगवान्के कथनरूप मणिके घरमें बहुतसे पामर प्राणी दोषरूप छिद्रोंको खोजनेका प्रयत्न कर अधोगतिको ले जानेवाले कर्मोंको बाँधते है। हरी वनस्पतिके बदले उसे सुखाकर काममें लेना किसने और किस विचारसे ढूँढ निकाला होगा ' यह विषय बहुत बड़ा है। यहाँ इस सम्बन्धमें कुछ कहनेकी जरूरत नहीं। तात्पर्य यह है कि हमें अपनी आत्माको सार्थक करनेके लिये मतभेदमें नहीं पड़ना चाहिये।

इनमें [illegible] विमल आचार, विवेक, दया, क्षमा आदिका सेवन [illegible] भी कारण महित देना चाहिये। [illegible] नहीं भूलना चाहिये।

५४ अशुचि किसे कहते हैं ?

जिज्ञासु—मुझे जैन मुनियोंके आचारकी बात बहुत रुचिकर हुई है। इनके समान किसी भी दर्शनके संतोंका आचार नहीं। चाहे जैसी शीत ऋतुकी ठंड हो उसमें इन्हें अमुक वस्त्रसे ही निभाना पड़ता है, ग्रीष्ममें कितनी ही गरमी पड़नेपर भी ये पैरमें जूता और सिरपर छत्री नहीं लगा सकते। इन्हें गरम रेतीमें आतापना लेनी पड़ती है। ये जीवनपर्यंत गरम पानी पीते हैं। ये गृहस्थके घर नहीं बैठ सकते, शुद्ध ब्रह्मचर्य पालते हैं, फूटी कौड़ी भी पासमें नहीं रख सकते, अयोग्य वचन नहीं बोल सकते, और वाहन नहीं ले सकते। वास्तवमें ऐसे पवित्र आचार ही मोक्षदायक हैं। परन्तु नव बाड़में भगवान्‌ने स्नान करनेका निषेध क्यों किया है, यह बात यथार्थरूपसे मेरी समझमें नहीं बैठती।

सत्य—क्यों नहीं बैठती ?

जिज्ञासु—क्योंकि स्नान न करनेसे अशुचि बढ़ती है।

सत्य—कौनसी अशुचि बढ़ती है ?

जिज्ञासु—शरीर मलिन रहता है।

सत्य—भाई ! शरीरकी मलिनताको अशुचि कहना, यह बात कुछ विचारपूर्ण नहीं। शरीर स्वयं किस चीजका बना है, यह तो विचार करो। यह रक्त, पित्त, मल, मूत्र, श्लेष्मका भंडार है। उसपर केवल त्वचा ढँकी हुई है। फिर यह पवित्र कैसे हो सकता है ? फिर साधुओंने ऐसा कौनसा संसार-कर्तव्य किया है कि जिससे उन्हें स्नान करनेकी आवश्यकता हो ?

जिज्ञासु—परन्तु स्नान करनेसे उनको हानि क्या है ?

सत्य—यह तो स्थूल बुद्धिका ही प्रश्न है। स्नान करनेसे कामाग्निकी प्रदीप्ति, मनका भंग, परिणामका बदलना असंख्यातों जंतुओंका विनाश, यह सब अशुचिता उत्पन्न होती है, और इससे आत्मा महा मलिन होती है. प्रथम इसका विचार करना चाहिये। जीव-हिंसासे युक्त शरीरकी जो मलिनता है वह अशुचि है। [illegible] समझना चाहिये कि दूसरी मलिनताओंसे तो आत्माकी उज्ज्वलता होती है, [illegible] और आत्माकी मलिनता ही अशुचि है।

५५ सामान्य नित्यनियम

माता पिताका विनय करके संसारी कामोंमें आत्म-हितका ध्यान न भूल सकें, इस तरह व्यवहारिक कार्योंमें प्रवृत्ति करनी चाहिये।

स्वयं भोजन करनेसे पहले सत्पात्रको दान देनेकी परम आतुरता रखकर वैसा योग मिलनेपर यथोचित प्रवृत्ति करनी चाहिये।

आहार विहार आदिमें नियम सहित प्रवृत्ति करनी चाहिये।

सत् शास्त्रके अभ्यासका नियमित समय रखना चाहिये।

सायंकालमें उपयोगपूर्वक संध्यावश्यक करना चाहिये।

निद्रा नियमितरूपसे लेना चाहिये।

सोनेके पहले अठारह पापस्थानक, बारह व्रतोंके दोष, और सब जीवोंको क्षमाकर, पंचपरमेष्ठी मंत्रका स्मरणकर समाधिपूर्वक शयन करना चाहिये।

ये सामान्य नियम बहुत मंगलकारी हैं, इन्हें यहाँ संक्षेपमें कहा है। विशेष विचार करनेसे और तदनुसार प्रवृत्ति करनेसे वे विशेष मंगलदायक और आनन्दकारक होंगे।

५६ क्षमापना

हे भगवन्! मैं बहुत भूला, मैंने आपके अमूल्य वचनोंको ध्यानमें नहीं रक्खा। मैंने आपके कहे हुए अनुपम तत्त्वका विचार नहीं किया। आपके द्वारा प्रणीत किये उत्तम शीलका सेवन नहीं किया। आपके कहे हुए दया, शांति, क्षमा और पवित्रताको मैंने नहीं पहचाना। हे भगवन्! मैं भूला, फिरा, भटका, और अनंत संसारकी विटम्बनामें पड़ा हूँ। मैं पापी हूँ। मैं बहुत मदोन्मत्त और कर्म-रजसे मलिन हूँ। हे परमात्मन्! आपके कहे हुए तत्त्वोंके बिना मेरी मोक्ष नहीं होगी। मैं निरंतर प्रपंचमें पड़ा हूँ। अज्ञानसे अंधा हो रहा हूँ; मुझमें विवेक-शक्ति नहीं। मैं मूढ़ हूँ; मैं निराश्रित हूँ; मैं अनाथ हूँ। हे वीतरागी परमात्मन्! अब मैं आपका आपके धर्मका और आपके मुनियोंका शरण लेता हूँ। अपने अपराध क्षय करके मैं उन सब पापोंसे मुक्त होऊँ यही मेरी अभिलाषा है। पहले किये हुए पापोंका मैं अब पश्चात्ताप करता हूँ। जैसे जैसे मैं सूक्ष्म विचारसे गहरा उतरता जाता हूँ, वैसे वैसे आपके तत्त्वके चमत्कार मेरे स्वरूपका प्रकाश करते हैं। आप वीतरागी, निर्विकारी, सच्चिदानंदस्वरूप, सहजानंदी, अनंतज्ञानी, अनंतदर्शी, और त्रैलोक्य-प्रकाशक हैं। मैं केवल अपने हितके लिये आपकी साक्षीसे क्षमा चाहता हूँ। एक पल भी आपके कहे हुए तत्त्वमें शंका न हो, आपके बताये हुए रास्तेमें मैं अहोरात्र रहूँ, यही मेरी आकांक्षा और वृत्ति होओ! हे सर्वज्ञ भगवन्! आपसे मैं विशेष क्या कहूँ! आपसे कुछ अज्ञात नहीं। पश्चात्तापसे मैं कर्मजन्य पापकी क्षमा चाहता हूँ— ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

५७ वैराग्य धर्मका स्वरूप है

खूनसे रँगा हुआ वस्त्र खूनसे धोये जानेपर उज्ज्वल नहीं हो सकता, परन्तु अधिक रँगा जाता है; यदि इस वस्त्रको पानीसे धोते हैं तो वह मलिनता दूर हो सकती है। इस दृष्टान्तको आत्मापर घटाते हैं। अनादि कालसे आत्मा संसाररूपी खूनसे मलिन है। मलिनता इसके प्रदेश प्रदेशमें व्याप्त हो रही है। इस मलिनताको हम विषय-शृंगारसे दूर करना चाहें तो वह दूर हो नहीं सकती। जिस

प्रकार खूनसे खून नहीं धोया जाता, उसी तरह शृंगारसे विषयजन्य आत्म-मलिनता दूर नहीं हो सकती। यह मानों निश्चयरूप है। इस जगत्में अनेक धर्ममत प्रचलित हैं। उनके संबंधमें निष्पक्षपात होकर विचार करनेपर पहलेसे इतना विचारना आवश्यक है कि जहाँ स्त्रियोंको भोग करनेका उपदेश किया हो, लक्ष्मी-लीलाकी शिक्षा दी हो, रँग, राग, गुलतान और एशो आराम करनेके तत्त्वका प्रतिपादन किया हो, वहाँ अपनी आत्माको सत् शांति नहीं। कारण कि इसे धर्ममत गिना जाय तो समस्त संसार धर्मयुक्त ही है। प्रत्येक गृहस्थका घर इसी योजनासे भरपूर है। बाल-बच्चे, स्त्री, रँग, राग, तानका वहाँ जमघट रहता है, और यदि उस घरको धर्म-मंदिर कहा जाय तो फिर अधर्म-स्थान किसे कहेंगे? और फिर जैसे हम बर्ताव करते हैं, उस तरहके बर्ताव करनेसे बुरा भी क्या है? यदि कोई यह कहे कि उस धर्म-मंदिरमें तो प्रभुकी भक्ति हो सकती है, तो उनके लिये खेदपूर्वक इतना ही उत्तर देना है कि वह परमात्म-तत्त्व और उसकी वैराग्यमय भक्तिको नहीं जानता। चाहे कुछ भी हो, परन्तु हमें अपने मूल विचारपर आना चाहिये। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिसे आत्मा संसारमें विषय आदिकी मलिनतासे पर्यटन करती है। इस मलिनताका क्षय विशुद्ध भावरूप जलसे होना चाहिये। अर्हतके तत्त्वरूप साबुन और वैराग्यरूपी जलसे उत्तम आचाररूप पत्थरपर आत्म-वस्त्रको धोनेवाले निर्ग्रंथ गुरु ही हैं।

इसमें यदि वैराग्य-जल न हो, तो दूसरी समस्त सामग्री कुछ भी नहीं कर सकती। अतएव वैराग्यको धर्मका स्वरूप कहा जा सकता है। अर्हत-प्रणीत तत्त्व वैराग्यका ही उपदेश करता है, तो यही धर्मका स्वरूप है, ऐसा जानना चाहिये।

५८ धर्मके मतभेद

(१)

इस जगत्में अनेक प्रकारके धर्मके मत प्रचलित हैं। ऐसे मतभेद अनादिकालसे हैं, यह न्यायसिद्ध है। परन्तु ये मतभेद कुछ कुछ रूपांतर पाते जाते हैं। इस संबंधमें यहाँ कुछ विचार करते हैं।

बहुतसे मतभेद परस्पर मिलते हुए और बहुतसे मतभेद परस्पर विरुद्ध हैं। कितने ही मतभेद केवल नास्तिकोंके द्वारा फैलाये हुए हैं। बहुतसे मत सामान्य नीतिको धर्म कहते हैं, बहुतसे ज्ञानको ही धर्म बताते हैं, कितने ही अज्ञानको ही धर्ममत मानते हैं। कितने ही भक्तिको धर्म कहते हैं, कितने ही क्रियाको धर्म मानते हैं, कितने ही विनयको धर्म कहते हैं, और कितने ही शरीरके सँभालनेको ही धर्ममत मानते हैं।

इन धर्ममतोंके स्थापकोंने यह मानकर ऐसा उपदेश किया मालूम होता है कि हम जो कहते हैं, वह सर्वज्ञकी वाणीरूप है, अथवा सत्य है। बाकीके समस्त मत असत्य और कुतर्कवादी हैं; तथा उन मतवादियोंने एक दूसरेका योग्य अथवा अयोग्य खंडन भी किया है। वेदांतके उपदेशक यही उपदेश करते हैं; सांख्यका भी यही उपदेश है; बौद्धका भी यही उपदेश है। न्यायमतवालोंका भी यही उपदेश है: वैशेषिक लोगोंका भी यही उपदेश है; शक्ति-पंथके माननेवाले भी यही उपदेश करते

हैं; वैष्णव आदिका भी यही उपदेश है; इस्लामका भी यही उपदेश है; और इसी तरह क्राइस्टका भी यही उपदेश है कि हमारा कथन तुम्हें सब सिद्धियाँ देगा। तब हमें किस रीतिसे विचार करना चाहिये ?

वादी और प्रतिवादी दोनों सच्चे नहीं होते, और दोनों झूठे भी नहीं होते। अधिक हुआ तो वादी कुछ अधिक सच्चा और प्रतिवादी कुछ थोड़ा झूँठा होता है; अथवा प्रतिवादी कुछ अधिक सच्चा, और वादी कुछ कम झूँठा होता है। हाँ, दोनोंकी बात सर्वथा झूँठी न होनी चाहिये। ऐसा विचार करनेसे तो एक धर्ममत सच्चा सिद्ध होता है, और शेष सब झूँठे ठहरते हैं।

जिज्ञासु—यह एक आश्चर्यकारक बात है। सबको असत्य अथवा सबको सत्य कैसे कहा जा सकता है ? यदि सबको असत्य कहते हैं तो हम नास्तिक ठहरते हैं, तथा धर्मकी सचाई जाती रहती है। यह तो निश्चय है कि धर्मकी सचाई है, और यह सचाई जगत्में अवश्य है। यदि एक धर्ममतको सत्य और बाकीके सबको असत्य कहते हैं तो इस बातको सिद्ध करके बतानी चाहिये। सबको सत्य कहते हैं तो यह रेतकी भीत बनाने जैसी बात हुई क्योंकि फिर इतने सब मतभेद कैसे हो गये ? यदि कुछ भी मतभेद न हो तो फिर जुदे जुदे उपदेशक अपने अपने मत स्थापित करनेके लिये क्यों कोशिश करें ? इस प्रकार परस्परके विरोधसे थोड़ी देरके लिये रुक जाना पड़ता है।

फिर भी इस संबंधमें हम यहाँ कुछ समाधान करेंगे। यह समाधान सत्य और मध्यस्थ भावनाकी दृष्टिसे किया है, एकांत अथवा एकमतकी दृष्टिसे नहीं किया। यह पक्षपाती अथवा अविवेकी नहीं, किन्तु उत्तम और विचारने योग्य है। देखनेमें यह सामान्य मालूम होगा परन्तु सूक्ष्म विचार करनेसे यह बहुत रहस्यपूर्ण लगेगा।

५९ धर्मके मतभेद
(२)

इतना तो तुम्हें स्पष्ट मानना चाहिये कि कोई भी एक धर्म इस संसारमें संपूर्ण सत्यतासे युक्त है। अब एक दर्शनको सत्य कहनेसे बाकीके धर्ममतोंको सर्वथा असत्य कहना पड़ेगा ! परन्तु मैं ऐसा नहीं कह सकता। शुद्ध आत्मज्ञानदाता निश्चयनयसे तो ये असत्यरूप सिद्ध होते हैं, परन्तु व्यवहारनयसे उन्हें असत्य नहीं कहा जा सकता। एक सत्य है, और बाकीके अपूर्ण और सदोष हैं, ऐसा मैं कहता हूँ। तथा कितने ही धर्ममत कुतर्कवादी और नास्तिक हैं, वे सर्वथा असत्य हैं। परन्तु जो परलोकका अथवा पापका कुछ भी उपदेश अथवा भय बताते हैं, इस प्रकारके धर्ममतोंको अपूर्ण और सदोष कह सकते हैं। एक दर्शन जिसे निर्दोष और पूर्ण कहा जा सकता है, उसके विषयकी बात अभी एक ओर रखते हैं।

अब तुम्हें शंका होगी कि सदोष और अपूर्ण कथनका इसके प्रवर्त्तकोंने किस कारणसे उपदेश दिया होगा ? इसका समाधान होना चाहिये। इसका समाधान यह है कि उन धर्ममतवालोंने जहाँतक उनकी बुद्धिकी गति पहुँची वहाँतक ही विचार किया। अनुमान, तर्क और उपमान आदिके आधारसे उन्हें जो कथन सिद्ध मालूम हुआ, वह प्रत्यक्षरूपसे मानो सिद्ध है, ऐसा उन्होने बताया।

उन्होंने जिस पक्षको लिया, उसमें मुख्य एकान्तवादको लिया। भक्ति, विश्वास, नीति, ज्ञान, क्रिया आदि एक पक्षको ही विशेषरूपसे लिया। इस कारण दूसरे मानने योग्य विषयोंको उन्होंने दूषित सिद्ध किये। फिर जिन विषयोंका उन्होंने वर्णन किया, उन विषयोंको उन्होंने कुछ सम्पूर्ण भावभेदसे जाना न था। परन्तु अपनी बुद्धिके अनुसार उन्होंने बहुत कुछ वर्णन किया। तार्किक सिद्धांत दृष्टांत आदिसे सामान्य बुद्धिवालोंके अथवा जड़ मनुष्योंके आगे उन्होंने सिद्ध कर दिखाया। कीर्ति, लोक-हित अथवा भगवान् मनवानेकी आकांक्षा इनमेंसे कोई एक भी इनके मनकी भ्रमणा होनेके कारण उन्होंने अत्युग्र उद्यम आदिसे विजय पायी। बहुतसोंने शृंगार और लोकप्रिय साधनोंसे मनुष्यके मनको हरण किया। दुनियाँ मोहमें तो वैसे ही डूबी पड़ी है, इसलिये इस इष्टदर्शनसे भेड़रूप होकर उन्होंने प्रसन्न होकर उनका कहना मान लिया। बहुतोंने नीति तथा कुछ वैराग्य आदि गुणोंको देखकर उस कथनको मान्य रक्खा। प्रवर्त्तककी बुद्धि उन लोगोंकी अपेक्षा विशेष होनेसे उनको पीछेसे भगवान्‌रूप ही मान लिया। बहुतोंने वैराग्यसे धर्ममत फैलाकर पीछेसे बहुतसे सुखशील साधनोंका उपदेश दाखिल कर अपने मतकी वृद्धि की। अपना मत स्थापन करनेकी महान् भ्रमणासे और अपनी अपूर्णता इत्यादि किसी भी कारणसे उन्हें दूसरेका कहा हुआ अच्छा नहीं लगा इसलिये उन्होंने एक जुदा ही मार्ग निकाला। इस प्रकार अनेक मतमतांतरोंकी जाल उत्पन्न होती गई। चार पाँच पीढ़ियोंतक किसीका एक धर्ममत रहा, पीछेसे वही कुल-धर्म हो गया। इस प्रकार जगह जगह होता गया।

६० धर्मके मतभेद

(३)

यदि एक दर्शन पूर्ण और सत्य न हो तो दूसरे धर्ममतको अपूर्ण और असत्य किसी प्रमाणसे नहीं कहा जा सकता। इस कारण जो एक दर्शन पूर्ण और सत्य है, उसके तत्त्व प्रमाणसे दूसरे मतोंकी अपूर्णता और एकान्तिकता देखनी चाहिये।

इन दूसरे धर्ममतोंमें तत्त्वज्ञानका यथार्थ सूक्ष्म विचार नहीं है। कितने ही जगत्कर्त्ताका उपदेश करते हैं, परन्तु जगत्कर्त्ता प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता। बहुतसे ज्ञानसे मोक्ष होता है, ऐसा मानते हैं, वे एकान्तिक हैं। इसी तरह क्रियासे मोक्ष होता है, ऐसा कहनेवाले भी एकांतिक हैं। ज्ञान और क्रिया इन दोनोंसे मोक्ष माननेवाले उनके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते और ये इन दोनोंके भेदको श्रेणीबद्ध [illegible] दिखाई दे जाती है। ये धर्ममतोंके [illegible] ऐसा इनके उपदेश किये हुए शास्त्र अथवा [illegible] अप्रमाणिक [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] सिद्ध [illegible] है, इसे [illegible] [illegible]।

इसलिये मैं यहाँ आया, और मैंने संतोष भी पाया। आपके समान ऋद्धि, सत्पुत्र, कमाई, स्त्री, कुटुम्ब, घर आदि मेरे देखनेमें कहीं भी नहीं आये। आप स्वयं भी धर्मशील, सद्गुणी और जिनेश्वरके उत्तम उपासक हैं। इससे मैं यह मानता हूँ कि आपके समान सुख और कहीं भी नहीं है। भारतमें आप विशेष सुखी हैं। उपासना करके कभी देवसे याचना करूँगा तो आपके समान ही सुख-स्थितिकी याचना करूँगा।

धनाढ्य—पंडितजी ! आप एक बहुत मर्मपूर्ण विचारसे निकले हैं, अतएव आपको अवश्य यथार्थ स्वानुभवकी बात कहता हूँ। फिर जैसी आपकी इच्छा हो वैसे करें। मेरे घर आपने जो सुख देखा वह सब सुख भारतमें कहीं भी नहीं, ऐसा आप कहते हैं तो ऐसा ही होगा। परन्तु वास्तवमें यह मुझे संभव नहीं मालूम होता। मेरा सिद्धांत ऐसा है कि जगत्में किसी स्थलमें भी वास्तविक सुख नहीं है। जगत् दुःखसे जल रहा है। आप मुझे सुखी देखते हैं परन्तु वास्तविक रीतिसे मैं सुखी नहीं।

विप्र—आपका यह कहना कुछ अनुभवसिद्ध और मार्मिक होगा। मैंने अनेक शास्त्र देखे हैं, परन्तु इस प्रकारके मर्मपूर्वक विचार ध्यानमें लेनेका परिश्रम ही नहीं उठाया। तथा मुझे ऐसा अनुभव सबके लिये नहीं हुआ। अब आपको क्या दुःख है, वह मुझसे कहिये।

धनाढ्य—पंडितजी ! आपकी इच्छा है तो मैं कहता हूँ। वह ध्यानपूर्वक मनन करने योग्य है और इसपरसे कोई रास्ता ढूँढा जा सकता है।

३३ सुखके विषयमें विचार

(३)

जैसी स्थिति आप मेरी इस समय देख रहे हैं वैसी स्थिति लक्ष्मी, कुटुम्ब और स्त्रीके संबंधमें मेरी पहले भी थी। जिस समयकी मैं बात कहता हूँ, उस समयको लगभग बीस बरस हो गये। व्यापार और वैभव [illegible] करोड़पति कहानेवाला मैं एकके बाद एक [illegible]। जहाँ निश्चयसे सीधा दाव समझकर लगाया था वहीं उल्टा दाव पड़ा। इतनेमें मेरी स्त्री भी गुजर गई। उस समय मेरे कोई सन्तान न थी। जबर्दस्त नुकसानोंके मारे मुझे यहाँसे निकल जाना पड़ा। मेरे कुटुम्बियोंने यथाशक्ति रक्षा की, परन्तु वह आकाश फटनेपर थेगरा लगाने जैसा था। अन्न और दाँतोंके वैर होनेकी स्थितिमें मैं बहुत आगे निकल पड़ा। जब मैं यहाँसे निकला तो मेरे कुटुम्बी लोग मुझे रोककर रखने लगे, और कहने लगे कि तूने गाँवका दरवाजा भी नहीं देखा, इसलिये हम तुझे नहीं जाने देंगे। तेरा कोमल शरीर कुछ भी नहीं कर सकता; और यदि तू वहाँ जाकर सुखी होगा तो फिर आयेगा भी नहीं, इसलिये इस विचारको तुझे छोड़ देना चाहिये। मैंने उन्हें बहुत तरहसे समझाया कि यदि मैं अच्छी स्थितिको प्राप्त करूँगा तो मैं अवश्य यहाँ आऊँगा—ऐसा वचन देकर मैं जावाबंदरकी यात्रा करने निकल पड़ा।

प्रारब्धके पीछे लौटनेकी तैयारी हुई। दैवयोगसे मेरे पास एक दमड़ी भी नहीं रह गई थी। एक दो महीने उदरपोषण चलानेका साधन भी नहीं रहा था। फिर भी मैं जावामें गया। वहाँ मेरी बुद्धिने प्रारब्धको खिला दिया। जिस जहाजमें मैं बैठा था उस जहाजके नाविकने मेरी चपलता और

नम्रता देखकर अपने शेठसे मेरे दुःखकी बात कही। उस शेठने मुझे बुलाकर एक काममें लगा दिया, जिससे मैं अपने पोषणसे चौगुना पैदा करता था। इस व्यापारमें मेरा चित्त जिस समय स्थिर हो गया उस समय भारतके साथ इस व्यापारके बढ़ानेका मैंने प्रयत्न किया, और उसमें सफलता मिली। दो वर्षोंमें पाँच लाखकी कमाई हुई। बादमें शेठसे राजी खुशीसे आज्ञा लेकर मैं कुछ माल खरीदकर द्वारिकाकी ओर चल दिया। थोड़े समय बाद मैं यहाँ आ पहुँचा। उस समय बहुत लोग मेरा सन्मान करनेके लिये आये। मैं अपने कुटुम्बियोंसे आनंदसे आ मिला। वे मेरे भाग्यकी प्रशंसा करने लगे। जावासे लिये हुए मालने मुझे एकके पाँच कराये। पंडितजी! वहाँ अनेक प्रकारसे मुझे पाप करने पड़ते थे। पूरा खाना भी मुझे नहीं मिलता था। परन्तु एकबार लक्ष्मी प्राप्त करनेकी जो प्रतिज्ञा की थी वह प्रारब्धसे पूर्ण हुई। जिस दुःखदायक स्थितिमें मैं था उस दुखमें क्या कमी थी! स्त्री पुत्र तो थे ही नहीं; माँ बाप पहलेसे परलोक सिधार गये थे। कुटुम्बियोंके वियोगसे और बिना दमड़ीके जिस समय मैं जावा गया, उस समयकी स्थिति अज्ञान-दृष्टिसे देखनेपर आँखमें आँसू ला देती है। इस समय भी मैंने धर्ममें ध्यान रक्खा था। दिनका कुछ हिस्सा उसमें लगाता था। वह लक्ष्मी अथवा लालचसे नहीं, परन्तु संसारके दुःखसे पार उतारनेवाला यह साधन है, तथा यह मानकर कि मौतका भय क्षण भी दूर नहीं है; इसलिये इस कर्तव्यको जैसे बने शीघ्रतासे कर लेना चाहिये, यह मेरी मुख्य नीति थी। दुराचारसे कोई सुख नहीं; मनकी तृप्ति नहीं; और आत्माकी मलिनता है—इस तत्त्वकी ओर मैंने अपना ध्यान लगाया था।

६४ सुखके विषयमें विचार

(४)

यहाँ आनेके बाद मैंने अच्छे घरकी कन्या प्राप्त की। वह भी सुलक्षणी और मर्यादाशील निकली। इससे मुझे तीन पुत्र हुए। कारबारके प्रबल होनेसे और पैसा पैसेको बढ़ाता है, इस नियमसे मैं दस वर्षमें महा करोड़पति हो गया। पुत्रोंकी नीति, विचार, और बुद्धिके उत्तम रहनेके लिये मैंने बहुत सुंदर साधन जुटाये, जिससे उन्होंने यह स्थिति प्राप्त की है। अपने कुटुम्बियोंको योग्य स्थानोंमें लगाकर उनकी स्थितिमें सुधार किया। दुकानके मैंने अमुक नियम बाँधे, तथा उत्तम मकान बनवानेका आरंभ भी कर दिया। यह केवल एक ममत्वके वास्ते किया। गया हुआ पीछे फिरसे प्राप्त किया, तथा कुल-परंपराकी प्रसिद्धि जाते हुए रोकी, यह कहलानेके लिये मैंने यह सब किया। इसे मैं सुख नहीं मानता। यद्यपि मैं दूसरोंकी अपेक्षा सुखी हूँ। [illegible] सुख नहीं। जगत्में बहुत करके असातावेदनीय ही है। [illegible] करनेका नियम रक्खा है। सत्शास्त्रोंका वाचन मनन, [illegible] ब्रह्मचर्य, [illegible] इत्यादि [illegible] बहुतसा [illegible] मैंने छोड़ दिया है। [illegible] नहीं है [illegible] नहीं [illegible] कर सकते हैं। [illegible]

सकते हैं। इसलिये धर्मके संबंधमें गृहस्थवर्गको मैं प्रायः उपदेश देकर यम-नियममें लाता हूँ। प्रति सप्ताह हमारे यहाँ लगभग पाँचसौ सद्गृहस्थोंकी सभा भरती है। आठ दिनका नया अनुभव और शेष पहिलेका धर्मानुभव मैं इन लोगोंको दो तीन मुहूर्त तक उपदेश करता हूँ। मेरी स्त्री धर्मशास्त्रकी कुछ जानकार होनेसे वह भी स्त्रीवर्गको उत्तम यम-नियमका उपदेश करके साप्ताहिक सभा भरती है। मेरे पुत्र भी शास्त्रोंका यथाशक्य परिचय रखते हैं। विद्वानोंका सन्मान, अतिथियोंकी विनय, और सामान्य सत्यता—एक ही भाव—ये नियम बहुधा मेरे अनुचर भी पालते हैं। इस कारण ये सब साता भोग सकते हैं। लक्ष्मीके साथ साथ मेरी नीति, धर्म, सद्गुण और विनयने जन-समुदायपर बहुत अच्छा असर डाला है। इतना तक हो गया है कि राजातक भी मेरी नीतिकी बातको मानता है। यह सब मैं आत्म-प्रशंसाके लिये नहीं कह रहा, यह बात आप ध्यानमें रक्खें। केवल आपकी पूँछी हुई बातके स्पष्टीकरणके लिये संक्षेपमें यह सब कहा है।

६५ सुखके विषयमें विचार

(५)

इन सब बातोंसे मैं सुखी हूँ, ऐसा आपको मालूम हो सकेगा और सामान्य विचारसे आप मुझे बहुत सुखी मानें भी तो मान सकते हैं। धर्म, शील और नीतिसे तथा शास्त्रावधानसे मुझे जो आनंद मिलता है वह अवर्णनीय है। परन्तु तत्त्वदृष्टिसे मैं सुखी नहीं माना जा सकता। जबतक सब प्रकारसे बाह्य और अभ्यंतर परिग्रहका मैंने त्याग नहीं किया तबतक रागद्वेषका भाव मौजूद है। यद्यपि वह बहुत अशमें नहीं, परन्तु है अवश्य, इसलिये वहाँ उपाधि भी है। सर्व-संग-परित्याग करनेकी मेरी सम्पूर्ण आकांक्षा है, परन्तु जबतक ऐसा नहीं हुआ तबतक किसी प्रियजनका वियोग, व्यवहारमें हानि, कुटु-म्बियोंका दुःख, ये थोड़े अंशमें भी उपाधि उत्पन्न कर सकते हैं। अपनी देहमें मौतके सिवाय अन्य नाना प्रकारके रोगोंका होना संभव है। इसलिये जबतक सम्पूर्ण निर्ग्रंथ, बाह्याभ्यंतर परिग्रहका त्याग, अल्पारंभका त्याग, यह सब नहीं हुआ, तबतक मैं अपनेको सर्वथा सुखी नहीं मानता। अब आपको तत्त्वकी दृष्टिसे विचार करनेसे मालूम पड़ेगा कि लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र अथवा कुटुम्बसे सुख नहीं होता, और यदि इसको सुख गिनूँ तो जिस समय मेरी स्थिति हीन हो गई थी उस समय यह सुख कहाँ चला गया था? जिसका वियोग है, जो क्षणभंगुर है और जहाँ अव्याबाधपना नहीं है, वह सम्पूर्ण अथवा वास्तविक सुख नहीं है। इस कारण मैं अपने आपको सुखी नहीं कह सकता। मैं बहुत विचार विचारकर व्यापार और कारबार करता था, तो भी मुझे आरंभोपाधि, अनीति और लेशमात्र भी कपटका सेवन करना नहीं पड़ा, यह तो नहीं कहा जा सकता। अनेक प्रकारके आरंभ और कपटका मुझे सेवन करना पड़ा था। आप यदि देवोपासनासे लक्ष्मी प्राप्त करनेका विचार करते हो तो वह यदि पुण्य न होगा तो कभी भी वह मिलनेवाली नहीं। पुण्यसे प्राप्त की हुई लक्ष्मीसे महारंभ, कपट और मान इत्यादिका बढ़ना यह महापापका कारण है। पाप नरकमें डालता है। पापसे आत्मा महान् मनुष्य-देहको व्यर्थ गुमा देती है। एक तो मानों पुण्यको खा जाना, और उसपर पापका बंध करना। लक्ष्मीकी और उसके द्वारा समस्त संसारकी उपाधि भोगना, मैं समझता हूँ, कि यह विवेकी आत्माको मान्य नहीं है।

सकती। मैंने जिस कारणसे लक्ष्मी उपार्जन की थी, वह कारण मैंने पहले आपसे कह दिया है। अब
आपकी जैसी इच्छा हो वैसा करें। आप विद्वान् हैं, मैं विद्वानोंको चाहता हूँ। आपकी अभिलाषा हो
तो धर्मध्यानमें संलग्न होकर कुटुम्ब सहित आप यहीं खुशीसे रहें। आपकी आजीविकाकी सरल योजना
जैसा आप कहें वैसी मैं आनन्दसे करा दूँ। आप यहाँ शास्त्र अध्ययन और सद्वस्तुका उपदेश करें।
मिथ्यारंभोपाधिकी लोलुपतामें, मैं समझता हूँ, न पड़ें। आगे जैसी आपकी इच्छा।

पंडित—आपने अपने अनुभवकी बहुत मनन करने योग्य आख्यायिका कही। आप अवश्य ही
कोई महात्मा हैं, पुण्यानुबंधी पुण्यवान् जीव हैं, विवेकी हैं, और आपकी विचार-शक्ति अद्भुत है। मैं
दरिद्रतासे तंग आकर जो इच्छा करता था, वह इच्छा एकांतिक थी। ये सब प्रकारके विवेकपूर्ण
विचार मैंने नहीं किये थे। मैं चाहे जैसा भी विद्वान् हूँ फिर भी ऐसा अनुभव, ऐसी विवेक-शक्ति
मुझमें नहीं है, यह बात मैं ठीक ही कहता हूँ। आपने मेरे लिये जो योजना बताई है, उसके लिये मैं
आपका बहुत उपकार मानता हूँ और उसे नम्रतापूर्वक स्वीकार करनेके लिये मैं हर्ष प्रगट करता हूँ। मैं
उपाधि नहीं चाहता। लक्ष्मीका फंद उपाधि ही देता है। आपका अनुभवसिद्ध कथन मुझे बहुत अच्छा
लगा है। संसार जल ही रहा है, इसमें सुख नहीं। आपने उपाधि रहित मुनि-सुखकी प्रशंसा की
[illegible] सत्य है। वह सन्मार्ग परिणाममें सर्वोपाधि, आधि व्याधि तथा अज्ञान भावसे रहित शाश्वत
[illegible] हेतु है।

६६ सुखके विषयमें विचार

(५)

[illegible]—आपको मेरी बात रुचिकर हुई इससे मुझे निरभिमानपूर्वक आनंद प्राप्त हुआ
[illegible] मैं योग्य योजना करूँगा। मैं अपने सामान्य विचारोंको कथानुरूप यहाँ कहनेकी आज्ञा

लक्ष्मीके उपार्जन करनेमें [illegible] और मायामें फँसे पड़े हैं, वे बहुत दुःखी हैं।
[illegible] अपूर्व उपयोग नहीं कर सकते। वे केवल उपाधि ही भोगते हैं, वे असंख्यात
[illegible] अस्वाभाविक [illegible] आता है, वे [illegible] अधोगतिको प्राप्त होकर अनंत
[illegible] हैं, मिले हुए मनुष्य भवको निष्फल कर डालते हैं, जिससे वे निरन्तर दुःखी

सकते हैं । इसलिये धर्मके संबंधमें गृहस्थवर्गको मैं प्रायः उपदेश देकर यम-नियममें लाता हूँ
सप्ताह हमारे यहाँ लगभग पाँचसौ सद्गृहस्थोंकी सभा भरती है । आठ दिनका नया अनुभव
शेष पहिलेका धर्मानुभव मैं इन लोगोंको दो तीन मुहूर्त तक उपदेश करता हूँ । मेरी स्त्री धर्म
कुछ जानकार होनेसे वह भी स्त्रीवर्गको उत्तम यम-नियमका उपदेश करके स
मेरे पुत्र भी शास्त्रोंका यथाशक्य परिचय । सन्मान,
सामान्य सत्यता—एक ही भाव—ये नियम पालते हैं
भोग सकते हैं । लक्ष्मीके साथ साथ मेरी न
असर डाला है । इतना तक हो गया है कि
सब मैं आत्म-प्रशंसाके लिये नहीं कह रहा,
बातके स्पष्टीकरणके लिये संक्षेपमें यह सब

६५

(

इन सब बातोंसे मैं सुखी हूँ, ऐसा आपको
बहुत सुखी मानें भी तो मान सकते हैं । धर्म,
मिलता है वह अवर्णनीय है । परन्तु तत्त्वदृष्टिसे मैं
बाह्य और अभ्यंतर परिग्रहका मैंने त्याग नहीं किया
अंशमें नहीं, परन्तु है अवश्य, इसलिये वहाँ उपाधि
आकांक्षा है, परन्तु जबतक ऐसा नहीं हुआ तबतक
स्त्रियोंका दुःख, ये थोड़े अंशमें भी उपाधि
नाना प्रकारके रोगोंका होना संभव है । इसलिये
अल्पारंभका त्याग, यह सब नहीं हुआ, तबतक
तत्त्वकी दृष्टिसे विचार करनेसे मालूम पड़ेगा कि
यदि इसको सुख गिनूँ तो जिस समय मेरी
था ! जिसका वियोग है, जो क्षणभंगुर है और
सुख नहीं है । इस कारण मैं अपने आपको
और कारबार करता था, तो भी मुझे
नहीं पड़ा, यह तो नहीं कहा जा स
पड़ा था । आप यदि देवोपासनामें
तो कभी भी वह मिलनेवाली नहीं
बढ़ना यह महापापका कारण
गुमा देती है । एक तो
उसके द्वारा समस्त

सकती। मैंने जिस कारणसे लक्ष्मी उपार्जन की थी, वह कारण मैंने पहले आपसे कह दिया है। अब आपकी जैसी इच्छा हो वैसा करें। आप विद्वान् हैं, मैं विद्वानोंको चाहता हूँ। आपकी अभिलाषा हो तो धर्मध्यानमें संलग्न होकर कुटुम्ब सहित आप यहीं खुशीसे रहें। आपकी आजीविकाकी सरल योजना जैसा आप कहें वैसी मैं आनन्दसे करा दूँ। आप यहाँ शास्त्र अध्ययन और सद्वस्तुका उपदेश करें। मिथ्यारंभोपाधिकी लोलुपतामें, मैं समझता हूँ, न पड़ें। आगे जैसी आपकी इच्छा।

पंडित—आपने अपने अनुभवकी बहुत मनन करने योग्य आख्यायिका कही। आप अवश्य ही कोई महात्मा हैं, पुण्यानुबंधी पुण्यवान् जीव हैं, विवेकी हैं, और आपकी विचार-शक्ति अद्भुत है। मैं दरिद्रतासे तंग आकर जो इच्छा करता था, वह इच्छा एकांतिक थी। ये सब प्रकारके विवेकपूर्ण विचार मैंने नहीं किये थे। मैं चाहे जैसा भी विद्वान् हूँ फिर भी ऐसा अनुभव, ऐसी विवेक-शक्ति मुझमें नहीं है, यह बात मैं ठीक ही कहता हूँ। आपने मेरे लिये जो योजना बताई है, उसके लिये मैं आपका बहुत उपकार मानता हूँ और उसे नम्रतापूर्वक स्वीकार करनेके लिये मैं हर्ष प्रगट करता हूँ। मैं उपाधि नहीं चाहता। लक्ष्मीका फंद उपाधि ही देता है। आपका अनुभवसिद्ध कथन मुझे बहुत अच्छा लगा है। संसार जल ही रहा है, इसमें सुख नहीं। आपने उपाधि रहित मुनि-सुखकी प्रशंसा की वह सत्य है। वह सन्मार्ग परिणाममें सर्वोपाधि, आधि व्याधि तथा अज्ञान भावसे रहित शाश्वत मोक्षका हेतु है।

६६ सुखके विषयमें विचार

(६)

धनाढ्य—आपको मेरी बात रुचिकर हुई इससे मुझे निरभिमानपूर्वक आनंद प्राप्त हुआ है। आपके लिये मैं योग्य योजना करूँगा। मैं अपने सामान्य विचारोंको कथानुरूप यहाँ कहनेकी आज्ञा चाहता हूँ।

जो केवल लक्ष्मीके उपार्जन करनेमें कपट लोभ और मायामें फँसे पड़े हैं, वे बहुत दुःखी हैं। वे उसका पूरा अथवा अधूरा उपयोग नहीं कर सकते। वे केवल उपाधि ही भोगते हैं, वे असंख्यात पाप करते हैं, उन्हें काल अचानक उठा ले जाता है, ये जीव अधोगतिको प्राप्त होकर अनंत संसारकी वृद्धि करते हैं, मिले हुए मनुष्य-भवको निर्माल्य कर डालते हैं, जिससे वे निरन्तर दुःखी ही रहते हैं।

जिन्होंने अपनी आजीविका जितने साधन मात्रको अल्पारंभसे रक्खा है, जो शुद्ध एकपत्नीव्रत, संतोष, परात्माकी रक्षा, यम, नियम, परोपकार अल्प राग, अल्प द्रव्यमाया, सत्य और शास्त्राध्ययन रखते हैं, जो सत्पुरुषोंकी सेवा करते हैं, जिन्होंने निर्ग्रन्थताका मनोरथ रक्खा है, जो बहुत प्रकारसे संसारसे त्यागीके समान रहते हैं, जिनका वैराग्य और विवेक उत्कृष्ट है, ऐसे पुरुष पवित्रतामें सुखपूर्वक काल व्यतीत करते हैं।

जो सब प्रकारके आरंभ और परिग्रहसे रहित हुए हैं; जो द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे अप्रतिबंधरूपसे विचरते हैं, जो शत्रु-मित्रके प्रति समान दृष्टि रखते हैं और जिनका काल शुद्ध आत्म-

सकते हैं। इसलिये धर्मके संबंधमें गृहस्थवर्गको मैं प्रायः उपदेश देकर यम-नियममें लाता हूँ। प्रति सप्ताह हमारे यहाँ लगभग पाँचसौ सद्गृहस्थोंकी सभा भरती है। आठ दिनका नया अनुभव और शेष पहिलेका धर्मानुभव मैं इन लोगोंको दो तीन मुहूर्त तक उपदेश करता हूँ। मेरी स्त्री धर्मशास्त्रकी कुछ जानकार होनेसे वह भी स्त्रीवर्गको उत्तम यम-नियमका उपदेश करके साप्ताहिक सभा भरती है। मेरे पुत्र भी शास्त्रोंका यथाशक्य परिचय रखते हैं। विद्वानोंका सन्मान, अतिथियोंकी विनय, और सामान्य सत्यता—एक ही भाव—ये नियम बहुधा मेरे अनुचर भी पालते हैं। इस कारण ये सब साता भोग सकते हैं। लक्ष्मीके साथ साथ मेरी नीति, धर्म, सद्गुण और विनयने जन-समुदायपर बहुत अच्छा असर डाला है। इतना तक हो गया है कि राजातक भी मेरी नीतिकी बातको मानता है। यह सब मैं आत्म-प्रशंसाके लिये नहीं कह रहा, यह बात आप ध्यानमें रक्खें। केवल आपकी पूँछी हुई बातके स्पष्टीकरणके लिये संक्षेपमें यह सब कहा है।

६५ सुखके विषयमें विचार
(५)

इन सब बातोंसे मैं सुखी हूँ, ऐसा आपको मालूम हो सकेगा और सामान्य विचारसे आप मुझे बहुत सुखी मानें भी तो मान सकते हैं। धर्म, शील और नीतिसे तथा शास्त्रावधानसे मुझे जो आनंद मिलता है वह अवर्णनीय है। परन्तु तत्त्वदृष्टिसे मैं सुखी नहीं माना जा सकता। जबतक सब प्रकारसे बाह्य और अभ्यंतर परिग्रहका मैंने त्याग नहीं किया तबतक रागद्वेषका भाव मौजूद है। यद्यपि वह बहुत अंशमें नहीं, परन्तु हैं अवश्य, इसलिये वहाँ उपाधि भी है। सर्व-संग-परित्याग करनेकी मेरी सम्पूर्ण आकांक्षा है, परन्तु जबतक ऐसा नहीं हुआ तबतक किसी प्रियजनका वियोग, व्यवहारमें हानि, कुटुम्बियोंका दुःख, ये थोड़े अंशमें भी उपाधि उत्पन्न कर सकते हैं। अपनी देहमें मौतके सिवाय अन्य नाना प्रकारके रोगोंका होना संभव है। इसलिये जबतक सम्पूर्ण निर्ग्रंथ, बाह्याभ्यंतर परिग्रहका त्याग, अल्पारंभका त्याग, यह सब नहीं हुआ, तबतक मैं अपनेको सर्वथा सुखी नहीं मानता। अब आपको तत्त्वकी दृष्टिसे विचार करनेसे मालूम पड़ेगा कि लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र अथवा कुटुम्बसे सुख नहीं होता, और यदि इसको सुख गिनूँ तो जिस समय मेरी स्थिति हीन हो गई थी उस समय यह सुख कहाँ चला गया था? जिसका वियोग है, जो क्षणभंगुर है और जहाँ अव्याबाधपना नहीं है, वह सम्पूर्ण अथवा वास्तविक सुख नहीं है। इस कारण मैं अपने आपको सुखी नहीं कह सकता। मैं बहुत विचार विचारकर व्यापार और कारबार करता था, तो भी मुझे आरंभोपाधि, अनीति और लेशमात्र भी कपटका सेवन करना नहीं पड़ा, यह तो नहीं कहा जा सकता। अनेक प्रकारके आरंभ और कपटका मुझे सेवन करना पड़ा था। आप यदि देवोपासनासे लक्ष्मी प्राप्त करनेका विचार करते हों तो वह यदि पुण्य न होगा तो कभी भी वह मिलनेवाली नहीं। पुण्यसे प्राप्त की हुई लक्ष्मीसे महारंभ, कपट और मान इत्यादिका बढ़ना यह महापापका कारण है। पाप नरकमें डालता है। पापसे आत्मा महान् मनुष्य-देहको व्यर्थ गुमा देती है। एक तो मानों पुण्यको खा जाना, और ऊपरसे पापका बंध करना। लक्ष्मीकी और उसके द्वारा समस्त संसारकी उपाधि भोगना, मैं समझता हूँ, कि यह विवेकी आत्माको मान्य नहीं है।

सकती। मैंने जिस कारणसे लक्ष्मी उपार्जन की थी, वह कारण मैंने पहले आपसे कह दिया है। अब आपकी जैसी इच्छा हो वैसा करें। आप विद्वान् हैं, मैं विद्वानोंको चाहता हूँ। आपकी अभिलाषा हो तो धर्मध्यानमें संलग्न होकर कुटुम्ब सहित आप यहीं खुशीसे रहें। आपकी आजीविकाकी सरल योजना जैसा आप कहें वैसी मैं आनन्दसे करा दूँ। आप यहाँ शास्त्र अध्ययन और सद्वस्तुका उपदेश करें। मिथ्यारंभोपाधिकी लोलुपतामें, मैं समझता हूँ, न पड़ें। आगे जैसी आपकी इच्छा।

पंडित—आपने अपने अनुभवकी बहुत मनन करने योग्य आख्यायिका कही। आप अवश्य ही कोई महात्मा हैं, पुण्यानुबंधी पुण्यवान् जीव हैं, विवेकी हैं, और आपकी विचार-शक्ति अद्भुत है। मैं दरिद्रतासे तंग आकर जो इच्छा करता था, वह इच्छा एकांतिक थी। ये सब प्रकारके विवेकपूर्ण विचार मैंने नहीं किये थे। मैं चाहे जैसा भी विद्वान् हूँ फिर भी ऐसा अनुभव, ऐसी विवेक-शक्ति मुझमें नहीं है, यह बात मैं ठीक ही कहता हूँ। आपने मेरे लिये जो योजना बताई है, उसके लिये मैं आपका बहुत उपकार मानता हूँ और उसे नम्रतापूर्वक स्वीकार करनेके लिये मैं हर्ष प्रगट करता हूँ। मैं उपाधि नहीं चाहता। लक्ष्मीका फंद उपाधि ही देता है। आपका अनुभवसिद्ध कथन मुझे बहुत अच्छा लगा है। संसार जल ही रहा है, इसमें सुख नहीं। आपने उपाधि रहित मुनि-सुखकी प्रशंसा की वह सत्य है। वह सन्मार्ग परिणाममें सर्वोपाधि, आधि व्याधि तथा अज्ञान भावसे रहित शाश्वत मोक्षका हेतु है।

६६ सुखके विषयमें विचार

(६)

धनाढ्य—आपको मेरी बात रुचिकर हुई इससे मुझे निरभिमानपूर्वक आनंद प्राप्त हुआ है। आपके लिये मैं योग्य योजना करूँगा। मैं अपने सामान्य विचारोंको कथानुरूप यहाँ कहनेकी आज्ञा चाहता हूँ।

जो केवल लक्ष्मीके उपार्जन करनेमें कपट लोभ और मायामें फँसे पड़े हैं, वे बहुत दुःखी हैं। वे उसका पूरा अथवा अधूरा उपयोग नहीं कर सकते। वे केवल उपाधि ही भोगते हैं, वे असंख्यात पाप करते हैं, उन्हें काल अचानक उठा ले जाता है, ये जीव अधोगतिको प्राप्त होकर अनंत संसारकी वृद्धि करते हैं, मिले हुए मनुष्य-भवको निर्माल्य कर डालते हैं, जिससे वे निरन्तर दुःखी ही रहते हैं।

जिन्होंने अपनी आजीविका जितने साधन मात्रको अल्पारंभसे रक्खा है, जो शुद्ध एकपत्नीव्रत, संतोष, परात्माकी रक्षा, यम, नियम, परोपकार अल्प राग, अल्प द्रव्यमाया, सत्य और शास्त्राध्ययन रखते हैं, जो सत्पुरुषोंकी सेवा करते हैं, जिन्होंने निर्ग्रन्थताका मनोरथ रक्खा है, जो बहुत प्रकारसे संसारसे त्यागीके समान रहते हैं, जिनका वैराग्य और विवेक उत्कृष्ट है, ऐसे पुरुष पवित्रतामें सुखपूर्वक काल व्यतीत करते हैं।

जो सब प्रकारके आरंभ और परिग्रहसे रहित हुए हैं; जो द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे अप्रतिबंधरूपसे विचरते हैं, जो शत्रु-मित्रके प्रति समान दृष्टि रखते हैं और जिनका काल शुद्ध आत्म-

ध्यानमें व्यतीत होता है, और जो स्वाध्याय एवं ध्यानमें लीन हैं, ऐसे जितेन्द्रिय और जितकषाय वे निर्ग्रंथ परम सुखी हैं।

जिन्होंने सब घनघाती कर्मोंका क्षय किया है, जिनके चार अघाती-कर्म कृश पड़ गये हैं, जो मुक्त हैं, जो अनंतज्ञानी और अनंतदर्शी हैं वे ही सम्पूर्ण सुखी हैं। वे मोक्षमें अनंत जीवनके अनंत सुखमें सर्व कर्मसे विरक्त होकर विराजते हैं।

इस प्रकार सत्पुरुषोंद्वारा कहा हुआ मत मुझे मान्य है। पहला तो मुझे त्याज्य है। दूसरा अभी मान्य है, और बहुत अंशमें इसे ग्रहण करनेका मेरा उपदेश है। तीसरा बहुत मान्य है, और चौथा तो सर्वमान्य और सच्चिदानन्द स्वरूप है।

इस प्रकार पंडितजी आपकी और मेरी सुखके संबंधमें बातचीत हुई। ज्यों ज्यों प्रसंग मिलते जायँगे त्यों त्यों इन बातोंपर चर्चा और विचार करते जायँगे। इन विचारोंके आपसे कहनेसे मुझे बहुत आनन्द हुआ है। आप ऐसे विचारोंके अनुकूल हुए हैं इससे और भी आनन्दमें वृद्धि हुई है। इस तरह परस्पर बातचीत करते करते वे हर्षके साथ समाधि-भावसे सो गये।

जो विवेकी इस सुखके विषयपर विचार करेंगे वे बहुत तत्त्व और आत्मश्रेणीकी उत्कृष्टताको प्राप्त करेंगे। इसमें कहे हुए अल्पारंभी, निरारंभी और सर्वमुक्तके लक्षण ध्यानपूर्वक मनन करने योग्य हैं। जैसे बने तैसे अल्पारंभी होकर समभावसे जन-समुदायके हितकी ओर लगना; परोपकार, दया, शांति, क्षमा और पवित्रताका सेवन करना यह बहुत सुखदायक है। निर्ग्रंथताके विषयमें तो विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं। मुक्तात्मा अनंत सुखमय ही है।

६७ अमूल्य तत्त्वविचार

हरिगीत छंद

बहुत पुण्यके पुंजसे इस शुभ मानव देहकी प्राप्ति हुई; तो भी अरे रे! भव-चक्रका एक भी चक्कर दूर नहीं हुआ। सुखको प्राप्त करनेसे सुख दूर होता जाता है, इसे ज़रा अपने ध्यानमें लो। अहो! इस क्षण क्षणमें होनेवाले भयंकर भाव-मरणमें तुम क्यों लवलीन हो रहे हो? ॥ १ ॥

यदि तुम्हारी लक्ष्मी और सत्ता बढ़ गई, तो कहो तो सही कि तुम्हारा बढ़ ही क्या गया? क्या कुटुम्ब और परिवारके बढ़नेसे तुम अपनी बढ़ती मानते हो? हर्गिज़ ऐसा मत मानो; क्योंकि संसारका बढ़ना मानो मनुष्य देहको हार जाना है। अहो! इसका तुमको एक पलभर भी विचार नहीं होता! ॥२॥

६७ अमूल्य तत्त्वविचार

हरिगीत छंद

बहु पुण्यकेरा पुंजथी शुभ देह मानवनो मळ्यो,
तोये अरे! भवचक्रनो आंटो नहि एके टळ्यो,
सुख प्राप्त करतां सुख टळे छे लेश ए लक्षे लहो,
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो राची रहो? ॥ १ ॥
लक्ष्मी अने अधिकार वधतां, शुं वध्युं ते तो कहो?
शुं कुटुंब के परिवारथी वधवापणुं, ए नय ग्रहो,
वधवापणुं संसारनुं नर देहने हारी जवो,
एनो विचार नहीं अहोहो! एक पळ तमने हवो!!! ॥ २ ॥

निर्दोष सुख और निर्दोष आनन्दको, जहाँ कहींसे भी वह मिल सके वहाँसे प्राप्त करो जिससे कि यह दिव्यशक्तिमान आत्मा जंज़ीरोंसे निकल सके। इस वातकी सदा मुझे दया है कि परवस्तुमें मोह नहीं करना। जिसके अन्तमें दुःख है उसे सुख कहना, यह त्यागने योग्य सिद्धांत है ॥ ३ ॥

मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, मेरा सच्चा स्वरूप क्या है, यह संबंध किस कारणसे हुआ है, उसे रक्खूँ या छोड़ दूँ? यदि इन वातोंका विवेकपूर्वक शांत भावसे विचार किया तो आत्मज्ञानके सब सिद्धांत-तत्त्व अनुभवमें आ गये ॥ ४ ॥

यह सब प्राप्त करनेके लिये किसके वचनको सम्पूर्ण सत्य मानना चाहिये? यह जिसने अनुभव किया है ऐसे निर्दोष पुरुषका कथन मानना चाहिये। अरे, आत्माका उद्धार करो, आत्माका उद्धार करो, इसे शीघ्र पहचानो, और सब आत्माओंमें समदृष्टि रक्खो, इस वचनको हृदयमें धारण करो ॥५॥

६८ जितेन्द्रियता

जवतक जीभ स्वादिष्ट भोजन चाहती है, जवतक नासिकाको सुगंध अच्छी लगती है, जवतक कान वारांगना आदिके गायन और वादित्र चाहता है, जवतक आँख वनोपवन देखनेका लक्ष रखती है, जवतक त्वचाको सुगंधि-लेपन अच्छा लगता है, तवतक मनुष्य निरागी, निर्ग्रंथ, निष्परिग्रही, निरारंभी, और ब्रह्मचारी नहीं हो सकता। मनको वशमें करना यह सर्वोत्तम है। इसके द्वारा सब इन्द्रियाँ वशमें की जा सकती हैं। मनको जीतना बहुत दुर्घट है। मन एक समयमें असंख्यातों योजन चलनेवाले अश्वके समान है। इसको थकाना बहुत कठिन है। इसकी गति चपल और पकड़में न आनेवाली है। महा ज्ञानियोंने ज्ञानरूपी लगामसे इसको वशमें रखकर सबको जीत लिया है।

उत्तराध्ययनसूत्रमें नमिराज महर्षिने शक्रेन्द्रसे ऐसा कहा है कि दसलाख सुभटोंको जीतनेवाले बहुतसे पड़े हैं, परंतु अपनी आत्माको जीतनवाले बहुत ही दुर्लभ हैं, और वे दसलाख सुभटोंको जीतने-वालोंकी अपेक्षा अत्युत्तम हैं।

मन ही सर्वोपाधिकी जन्मदाता भूमिका है। मन ही बंध और मोक्षका कारण है। मन ही सब संसारका मोहिनीरूप है। इसको वश कर लेनेपर आत्म-स्वरूपको पा जाना लेशमात्र भी कठिन नहीं है।

निर्दोष सुख निर्दोष आनंद, ल्यो गमे त्यांथी भले,
ए दिव्यशक्तिमान जेथी जंजिरेथी नीकळे:
परवस्तुमां नहि मुंझवो एनी दया मुजने रही,
ए त्यागवा सिद्धांत [illegible] दुःख ते सुख नहीं । ३
[illegible]

मनसे इन्द्रियोंकी लोलुपता है। भोजन, वादित्र, सुगंधी, स्त्रीका निरीक्षण, सुंदर विलेपन यह सब मन ही माँगता है। इस मोहिनीके कारण यह धर्मकी याद भी नहीं आने देता। याद आनेके पीछे सावधान नहीं होने देता। सावधान होनेके बाद पतित करनेमें प्रवृत्त होता है। इसमें जब सफल नहीं होता तब सावधानीमें कुछ न्यूनता पहुँचाता है। जो इस न्यूनताको भी न प्राप्त होकर अडग रहकर उस मनको जीतते हैं, वे सर्वथा सिद्धिको पाते हैं।

मनको कोई ही अकस्मात् जीत सकता है, नहीं तो यह गृहस्थाश्रममें अभ्यास करके जीता जाता है। यह अभ्यास निर्ग्रंथतामें बहुत हो सकता है। फिर भी यदि कोई सामान्य परिचय करना चाहे तो उसका मुख्य मार्ग यही है कि मन जो दुरिच्छा करे, उसे भूल जाना, और वैसा नहीं करना। जब मन शब्द, स्पर्श आदि विलासकी इच्छा करे तब उसे नहीं देना। संक्षेपमें हमें इससे प्रेरित न होना चाहिये परन्तु इसे प्रेरित करना चाहिये। मनको मोक्ष-मार्गके चिन्तनमें लगाना चाहिये। जितेन्द्रियता बिना सब प्रकारकी उपाधियाँ खड़ी ही रहती हैं, त्याग अत्यागके समान हो जाता है; लोकलज्जासे उसे निबाहना पड़ता है। अतएव अभ्यास करके भी मनको स्वाधीनतामें लाकर अवश्य आत्महित करना चाहिये।

६९ ब्रह्मचर्यकी नौ वाडें

ज्ञानी लोगोंने थोड़े शब्दोंमें कैसे भेद और कैसा स्वरूप बताया है! इससे कितनी अधिक आत्मोन्नति होती है! ब्रह्मचर्य जैसे गंभीर विषयका स्वरूप संक्षेपमें अत्यन्त चमत्कारिक रीतिसे कह दिया है। ब्रह्मचर्यको एक सुंदर वृक्ष और उसकी रक्षा करनेवाली नव विधियोंको उसकी बाड़का रूप देकर जिससे आचार पालनेमें विशेष स्मृति रह सके ऐसी सरलता कर दी है। इन नौ बाड़ोंको यथार्थरूपसे यहाँ कहता हूँ।

१ *वसति—ब्रह्मचारी साधुको स्त्री, पशु अथवा नपुंसकसे संयुक्त स्थानमें नहीं रहना चाहिये।* स्त्रियाँ दो प्रकारकी हैं:—मनुष्यिणी और देवांगना। इनमें प्रत्येकके फिर दो दो भेद हैं। एक तो मूल, और दूसरा स्त्रीकी मूर्ति अथवा चित्र। इनमेंसे जहाँ किसी भी प्रकारकी स्त्री हो, वहाँ ब्रह्मचारी साधुको न रहना चाहिये, क्योंकि ये विकारके हेतु हैं। पशुका अर्थ तिर्यंचिणी होता है। जिस स्थानमें गाय, भैंस इत्यादि हों उस स्थानमें नहीं रहना चाहिये। तथा जहाँ पंडग अर्थात् नपुंसकका वास हो वहाँ भी नहीं रहना चाहिये। इस प्रकारका वास ब्रह्मचर्यकी हानि करता है। उनकी कामचेष्टा, हाव, भाव इत्यादि विकार मनको भ्रष्ट करते हैं।

२ *कथा—केवल अकेली स्त्रियोंको ही अथवा एक ही स्त्रीको ब्रह्मचारीको धर्मोपदेश नहीं करना चाहिये।* कथा मोहकी उत्पत्ति रूप है। ब्रह्मचारीको स्त्रीके रूप, कामविलाससंबंधी ग्रन्थोंको नहीं पढ़ना चाहिये, तथा जिससे चित्त चलायमान हो ऐसी किसी भी तरहकी शृंगारसंबंधी बातचीत ब्रह्मचारीको नहीं करनी चाहिये।

३ आसन—स्त्रियोंके साथ एक आसनपर न बैठना चाहिये तथा जिस जगह स्त्री बैठ चुकी हो उस स्थानमें दो घड़ीतक ब्रह्मचारीको नहीं बैठना चाहिये। यह स्त्रियोंकी स्मृतिका कारण है। इससे विकारकी उत्पत्ति होती है, ऐसा भगवान्‌ने कहा है।

४ इन्द्रियनिरीक्षण—ब्रह्मचारी साधुओंको स्त्रियोंके अंगोपांग ध्यानपूर्वक अथवा दृष्टि गड़ा-गड़ाकर न देखने चाहिये। इनके किसी अंगपर दृष्टि एकाग्र होनेसे विकारकी उत्पत्ति होती है।

५ कुड्यांतर—भीत, कनात या टाटका अंतरपट रखकर जहाँ स्त्री-पुरुष मैथुन करते हों वहाँ ब्रह्मचारीको नहीं रहना चाहिये, क्योंकि शब्द, चेष्टा आदि विकारके कारण हैं।

६ पूर्वक्रीड़ा—स्वयं ब्रह्मचारी साधुने गृहस्थावासमें किसी भी प्रकारकी शृंगारपूर्ण विषय-क्रीड़ाकी हो तो उसकी स्मृति न करनी चाहिये। ऐसा करनेसे ब्रह्मचर्य भंग होता है।

७ प्रणीत—दूध, दही, घृत आदि मधुर और सचिकण पदार्थोंका बहुधा आहार न करना चाहिये। इससे वीर्यकी वृद्धि और उन्माद पैदा होते हैं और उनसे कामकी उत्पत्ति होती है। इसलिये ब्रह्मचारियोंको इनका सेवन नहीं करना चाहिये।

८ अतिमात्राहार—पेट भरकर मात्रासे अधिक भोजन नहीं करना चाहिये। तथा जिससे अतिमात्राकी उत्पत्ति हो ऐसा नहीं करना चाहिये। इससे भी विकार बढ़ता है।

९ विभूषण—ब्रह्मचारीको स्नान, विलेपन करना, तथा पुष्प आदिका ग्रहण नहीं करना चाहिये। इससे ब्रह्मचर्यकी हानि होती है।

इस प्रकार विशुद्ध ब्रह्मचर्यके लिये भगवान्‌ने नौ वाड़ें कही हैं। बहुत करके ये तुम्हारे सुननेमें आई होंगी। परन्तु गृहस्थावासमें अमुक अमुक दिन ब्रह्मचर्य धारण करनेमें अभ्यासियोंके लक्ष्यमें रहनेके लिये यहाँ कुछ समझाकर कहा है।

७० सनत्कुमार

(१)

चक्रवर्तीके वैभवमें क्या कमी हो सकती है! सनत्कुमार चक्रवर्ती था। उसका वर्ण और रूप अत्युत्तम था। एक समय सुधर्मा सभामें उसके रूपकी प्रशंसा हुई। किन्हीं दो देवोंको यह बात अच्छी न लगी। बादमें वे दोनों देव शंका-निवारण करनेके लिये विप्रके रूपमें सनत्कुमारके अंतःपुरमें गये। सनत्कुमारके शरीरपर उस समय उबटन लगा हुआ था। उसके अंगमर्दन आदि पदार्थोंका सब जगह विलेपन हो रहा था। वह एक छोटासा पँचा पहने हुआ था और वह स्नान-मज्जन करनेको बैठा था। विप्रके रूपमें आये हुए देवताओंको उसका मनोहर मुख, कंचन वर्णकी काया, और चन्द्र जैसी कान्ति देखकर बहुत आनन्द हुआ और उन्होंने सिर हिलाया। यह देखकर चक्रवर्तीने [illegible] आपके रूप और वर्णको देखनेके लिये बहुत [illegible] आज हमने उसे प्रत्यक्ष [illegible] है [illegible] [illegible] उन [illegible]

समय तुम मेरा रूप और वर्ण देखोगे तो अद्भुत चमत्कार पाओगे और चकित हो जाओगे। देवोंने कहा, तो फिर हम राजसभामें आवेंगे। ऐसा कहकर वे वहाँसे चले गये। उसके बाद सनत्कुमारने उत्तम वस्त्रालंकार धारण किये। अनेक उपचारोंसे जिससे अपनी काया विशेष आश्चर्य उत्पन्न करे उस तरह सज्ज होकर वह राजसभामें आकर सिंहासनपर बैठा। दोनों ओर समर्थ मंत्री, सुभट, विद्वान् और अन्य सभासद लोग अपने अपने योग्य आसनपर बैठे थे। राजेश्वर चमर छत्रसे दुलाया जाता हुआ और क्षेम क्षेमसे बधाई दिया जाता हुआ विशेष शोभित हो रहा था। वहाँ वे देवता विप्रके रूपमें आये। अद्भुत रूप-वर्णसे आनन्द पानेके बदले मानों उन्हें खेद हुआ है, ऐसे उन्होंने अपने सिरको हिलाया। चक्रवर्तीने पूँछा, अहो ब्राह्मणो! पहले समयकी अपेक्षा इस समय तुमने दूसरी तरह सिर हिलाया, इसका क्या कारण है, वह मुझे कहो। अवधिज्ञानके अनुसार विप्रोंने कहा कि हे महाराज! उस रूपमें और इस रूपमें ज़मीन आसमानका फेर हो गया है। चक्रवर्तीने उन्हें इस बातको स्पष्ट समझानेको कहा। ब्राह्मणोंने कहा, अधिराज! आपकी काया पहले अमृततुल्य थी, इस समय ज़हरके तुल्य है। जब आपका अंग अमृततुल्य था तब आनन्द हुआ, और इस समय ज़हरके तुल्य है इसलिये खेद हुआ। जो हम कहते हैं यदि उस बातको सिद्ध करना हो तो आप तांबूलको थूँकें, अभी उसपर मक्खी बैठेगी और वे परलोक पहुँच जायँगी।

७१ सनत्कुमार
(२)

सनत्कुमारने इसकी परीक्षा की तो यह बात सत्य निकली। पूर्वकर्मके पापके भागमें इस कायाके मदका मिश्रण होनेसे इस चक्रवर्तीकी काया विषमय हो गई थी। विनाशीक और अशुचिमय कायाके ऐसे प्रपंचको देखकर सनत्कुमारके अन्तःकरणमें वैराग्य उत्पन्न हुआ। यह संसार केवल छोड़ने योग्य है। और ठीक ऐसी ही अपवित्रता स्त्री, पुत्र, मित्र आदिके शरीरमें है। यह सब मोह, मान करने योग्य नहीं, ऐसा विचार कर वह छह खंडकी प्रभुता त्यागकर चल निकला। जिस समय वह साधुरूपमें विचरता था उस समय उसको कोई महारोग हो गया। उसके सत्यत्वकी परीक्षा लेनेको एक देव वहाँ वैद्यके रूपमें आया और उसने साधुसे कहा, मैं बहुत कुशल राजवैद्य हूँ। आपकी काया रोगका भोग बनी हुई है। यदि इच्छा हो तो तत्काल ही मैं इस रोगका निवारण कर दूँ। साधुने कहा हे वैद्य! कर्मरूपी रोग बड़ा उन्मत्त है, इस रोगको दूर करनेकी यदि तुम्हारी सामर्थ्य हो तो भले मेरे इस रोगको दूर करो। यदि इस रोगको दूर करनेकी सामर्थ्य न हो तो यह रोग भले ही रहो। देवताने कहा, इस रोगको दूर करनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं है। साधुने अपनी लब्धिकी परिपूर्ण प्रबलताके वशसे थूकवाली अंगुली करके उसे रोगपर घिसी कि तत्काल ही उस रोगका नाश हो गया, और काया जैसी थी वैसी ही हो गई। उस समय देवने अपने स्वरूपको प्रगट किया, और वह धन्यवाद देकर और वंदन करके अपने स्थानको चला गया।

रक्तपित्त जैसे सदैव खून पीपसे खदबदाते हुए महारोगकी उत्पत्ति जिस कायामें है, पलभरमें विनष्ट होनेका जिसका स्वभाव है, जिसके प्रत्येक रोममें पौने दो दो रोगोंका निवास रहता है,

अन्न आदिकी न्यूनाधिकतासे जो रोग प्रत्येक कायामें प्रकट होते हैं, मलमूत्र, विष्ठा, हाड़, माँस, राद और श्लेष्मसे जिसका ढाँचा टिका हुआ है, केवल त्वचासे जिसकी मनोहरता है, उस कायाका मोह सचमुच विभ्रम ही है। सनत्कुमारने जिसका लेशमात्र भी मान किया, वह भी उससे सहन नहीं हुआ, उस कायामें अहो पामर! तू क्या मोह करता है! यह मोह मंगलदायक नहीं।

७२ बत्तीस योग

सत्पुरुषोंने नीचेके बत्तीस योगोंका संग्रहकर आत्माको उज्ज्वल बनानेका उपदेश दिया है:—

१ मोक्षसाधक योगके लिये शिष्यको आचार्यके प्रति आलोचना करनी।
२ आचार्यको आलोचनाको दूसरेसे प्रगट नहीं करनी।
३ आपत्तिकालमें भी धर्मकी दृढ़ता नहीं छोड़नी।
४ इस लोक और परलोकके सुखके फलकी वांछा बिना तप करना।
५ शिक्षाके अनुसार यतनासे आचरण करना और नयी शिक्षाको विवेकसे ग्रहण करना।
६ ममत्वका त्याग करना।
७ गुप्त तप करना।
८ निर्लोभता रखनी।
९ परीषहके उपसर्गको जीतना।
१० सरल चित्त रखना।
११ आत्मसंयम शुद्ध पालना।
१२ सम्यक्त्व शुद्ध रखना।
१३ चित्तकी एकाग्र समाधि रखनी।
१४ कपट रहित आचारका पालना।
१५ विनय करने योग्य पुरुषोंकी यथायोग्य विनय करनी।
१६ संतोषके द्वारा तृष्णाकी मर्यादा कम करना।
१७ वैराग्य भावनामें निमग्न रहना।
१८ माया रहित व्यवहार करना।
१९ शुभ क्रियामें सावधान होना।
२० [illegible] करना और उसको रोकना।
[illegible]

२७ हमेशा ब्रह्मचरित्रमें सूक्ष्म उपयोगसे लगे रहना।

२८ जितेन्द्रियताके लिये एकाग्रतापूर्वक ध्यान करना।

२९ मृत्युके दुःखसे भी भयभीत नहीं होना।

३० स्त्रियों आदिके संगको छोड़ना।

३१ प्रायश्चित्तसे विशुद्धि करनी।

३२ मरणकालमें आराधना करनी।

ये एक एक योग अमूल्य हैं। इन सबका संग्रह करनेवाला अंतमें अनंत सुखको पाता है।

७३ मोक्षसुख

इस पृथिवीमंडलपर कुछ ऐसी वस्तुयें और मनकी इच्छायें हैं जिन्हें कुछ अंशमें जाननेपर भी कहा नहीं जा सकता। फिर भी ये वस्तुयें कुछ संपूर्ण शाश्वत अथवा अनंत रहस्यपूर्ण नहीं हैं। जब ऐसी वस्तुका वर्णन नहीं हो सकता तो फिर अनंत सुखमय मोक्षकी तो उपमा कहाँसे मिल सकती है? भगवान्से गौतमस्वामीने मोक्षके अनंत सुखके विषयमें प्रश्न किया तो भगवान्ने उत्तरमें कहा, गौतम! इस अनंत सुखको मैं जानता हूँ, परन्तु जिससे उसकी समता दी जा सके, ऐसी यहाँ कोई उपमा नहीं। जगत्में इस सुखके तुल्य कोई भी वस्तु अथवा सुख नहीं, ऐसा कहकर उन्होंने निम्नरूपसे एक भीलका दृष्टांत दिया था।

किसी जंगलमें एक भोलाभाला भील अपने बाल-बच्चों सहित रहता था। शहर वगैरहकी समृद्धिकी उपाधिका उसे लेशभर भी भान न था। एक दिन कोई राजा अश्वक्रीड़ाके लिये फिरता फिरता वहाँ आ निकला। उसे बहुत प्यास लगी थी। राजाने इशारेसे भीलसे पानी माँगा। भीलने पानी दिया। शीतल जल पीकर राजा संतुष्ट हुआ। अपनेको भीलकी तरफसे मिले हुए अमूल्य जल-दानका बदला चुकानेके लिये भीलको समझाकर राजाने उसे साथ लिया। नगरमें आनेके पश्चात् राजाने भीलको उसकी जिन्दगीमें नहीं देखी हुई वस्तुओंमें रक्खा। सुंदर महल, पासमें अनेक अनुचर, मनोहर छत्र पलंग, स्वादिष्ट भोजन, मंद मंद पवन और सुगंधी विलेपनसे उसे आनंद आनंद कर दिया। वह विविध प्रकारके हीरा माणिक, मौक्तिक, मणिरत्न और रंगबिरंगी अमूल्य चीज़ें निरंतर उस भीलको देखनेके लिये भेजा करता था, उसे बाग-बगीचोंमें घूमने फिरनेके लिये भेजा करता था, इस तरह राजा उसे सुख दिया करता था। एक रातको जब सब सोये हुए थे, उस समय भीलको अपने बाल-बच्चोंकी याद आई इसलिये वह वहाँसे कुछ लिये करे बिना एकाएक निकल पड़ा, और जाकर अपने कुटुम्बियोंसे मिला। उन सबोंने मिलकर पूँछा कि तू कहाँ था? भीलने कहा, बहुत सुखमें। वहाँ मैंने बहुत प्रशंसा करने लायक वस्तुयें देखीं।

कुटुम्बी—परन्तु वे कैसी थीं, यह तो हमें कह।

भील—क्या कहूँ, यहाँ वैसी एक भी वस्तु ही नहीं।

कुटुम्बी—यह कैसे हो सकता है? ये शंख, सीप, कौड़े कैसे सुंदर पड़े हैं! क्या वहाँ कोई ऐसी देखने लायक वस्तु थी?

भील—नहीं भाई, ऐसी चीज़ तो वहाँ एक भी नहीं। उनके सौवें अथवा हजारवें भागतककी भी मनोहर चीज़ यहाँ कोई नहीं।

कुटुम्बी—तो तू चुपचाप बैठा रह। तुझे भ्रमणा हुई है। भला इससे अच्छा और क्या होगा?

हे गौतम! जैसे यह भील राजवैभवके सुख भोगकर आया था; और उन्हें जानता भी था, फिर भी उपमाके योग्य वस्तु न मिलनेसे वह कुछ नहीं कह सकता था, इसी तरह अनुपमेय मोक्षको, सच्चिदानंद स्वरूपमय निर्विकारी मोक्षके सुखके असंख्यातवें भागको भी योग्य उपमाके न मिलनेसे मैं तुझे कह नहीं सकता।

मोक्षके स्वरूपमें शंका करनेवाले तो कुतर्कवादी हैं। इनको क्षणिक सुखके विचारके कारण सत्सुखका विचार कहाँसे आ सकता है? कोई आत्मिक-ज्ञानहीन ऐसा भी कहते हैं कि संसारसे कोई विशेष सुखका साधन मोक्षमें नहीं रहता इसलिये इसमें अनंत अव्याबाध सुख कह दिया है, इनका यह कथन विवेकयुक्त नहीं। निद्रा प्रत्येक मानवीको प्रिय है, परन्तु उसमें वे कुछ जान अथवा देख नहीं सकते; और यदि कुछ जाननेमें आता भी है, तो वह केवल मिथ्या स्वप्नोपाधि आती है। जिसका कुछ असर हो ऐसी स्वप्नरहित निद्रा जिसमें सूक्ष्म स्थूल सब कुछ जान और देख सकते हों, और निरुपाधिसे शांत नींद ली जा सकती हो, तो भी कोई उसका वर्णन कैसे कर सकता है, और कोई इसकी उपमा भी क्या दे! यह तो स्थूल दृष्टांत है, परन्तु बालविवेकी इसके ऊपरसे कुछ विचार कर सकें इसलिये यह कहा है।

भीलका दृष्टांत समझानेके लिये भाषा-भेदके फेरफारसे तुम्हें कहा है।

७४ धर्मध्यान

(१)

भगवान्‌ने चार प्रकारके ध्यान बताये हैं—आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। पहले दो ध्यान त्यागने योग्य हैं। पीछेके दो ध्यान आत्मसार्थक हैं। श्रुतज्ञानके भेदोंको जाननेके लिये, शास्त्र-विचारमें कुशल होनेके लिये, निर्ग्रन्थ प्रवचनका तत्त्व पानेके लिये, सत्पुरुषोंद्वारा सेवा करने योग्य, विचारने योग्य और ग्रहण करने योग्य धर्मध्यानके मुख्य सोलह भेद हैं। पहले चार भेदोंको कहता हूँ—१ आणाविचय (आज्ञाविचय), २ अवायविचय (अपायविचय), ३ विवागविचय (विपाकविचय), ४ संठाणविचय (संस्थानविचय)। १ आज्ञाविचय—आज्ञा अर्थात् सर्वज्ञ भगवान्‌ने धर्म-तत्त्वसंबंधी जो कुछ भी कहा है वह सब सत्य है, उसमें शंका करना योग्य नहीं। कालकी हीनतासे, उत्तम ज्ञानके विच्छेद होनेसे, बुद्धिकी मंदतासे अथवा ऐसे ही अन्य किसी कारणसे मेरी समझमें ये तत्त्व नहीं आते; परन्तु अर्हन्त भगवान्‌ने अंशमात्र भी मायायुक्त अथवा असत्य नहीं कहा, कारण कि वे वीतरागी, त्यागी और निस्पृही थे। इनको मृषा कहनेका कोई भी कारण न था। तथा सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होनेके कारण अज्ञानसे भी वे मृषा नहीं कहेंगे। जहाँ अज्ञान ही नहीं वहाँ तत्त्वसंबंधी मृषा कहाँसे हो सकता है? [illegible] चिंतन करना 'आज्ञाविचय' नामका प्रथम भेद है। २ अपायविचय—[illegible] आदिसे जीवको जो दुःख [illegible] होता है, उससे [illegible] भवमें भटकना पड़ता [illegible] नामका दूसरा भेद है। [illegible] दुःख है। ३ विपाक-

विचय—मैं क्षण क्षणमें जो जो दुःख सहन कर रहा हूँ, भवाटवीमें पर्यटन कर रहा हूँ, अज्ञान आदि प्राप्त कर रहा हूँ, वह सब कर्मोंके फलके उदयसे है—ऐसा चिंतवन करना धर्मध्यान नामका तीसरा कर्मविपाकचिंतन भेद है। ४ संस्थानविचय—तीन लोकका स्वरूप चिंतवन करना। लोकस्वरूप सुप्रतिष्ठितके आकारका है; जीव अजीवसे सर्वत्र भरपूर है; यह असंख्यात योजनकी कोटानुकोटिसे तिरछा लोक है। इसमें असंख्यातों द्वीपसमुद्र हैं। असंख्यातों ज्योतिषी, भवनवासी, व्यंतरों आदिका इसमें निवास है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी विचित्रता इसमें लगी हुई है। अढ़ाई द्वीपमें जघन्य तीर्थंकर बीस और उत्कृष्ट एकसौ सत्तर होते हैं। जहाँ ये तथा केवली भगवान् और निर्ग्रंथ मुनिराज विचरते हैं, उन्हें "वंदामि, नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासामि" करता हूँ। इसी तरह वहाँके रहनेवाले श्रावक-श्राविकाओंका गुणगान करता हूँ। उस तिरछे लोकसे असंख्यातगुना अधिक ऊर्ध्वलोक है। वहाँ अनेक प्रकारके देवताओंका निवास है। इसके ऊपर ईषत् प्राग्भारा है। उसके ऊपर मुक्तात्मायें विराजती हैं। उन्हें "वंदामि, यावत् पज्जुवासामि" करता हूँ। उस ऊर्ध्वलोकसे भी कुछ विशेष अधोलोक है। उसमें अनंत दुःखोंसे भरा हुआ नरकावास और भुवनपतियोंके भुवन आदि हैं। इन तीन लोकके सब स्थानोंको इस आत्माने सम्यक्त्वरहित क्रियासे अनंतबार जन्म-मरणसे स्पर्श किया है—ऐसा चिंतवन करना संस्थानविचय नामक धर्मध्यानका चौथा भेद है। इन चार भेदोंको विचारकर सम्यक्त्वसहित श्रुत और चारित्र धर्मकी आराधना करनी चाहिये जिससे यह अनंत जन्म-मरण दूर हो। धर्मध्यानके इन चार भेदोंको स्मरण रखना चाहिये।

७५ धर्मध्यान

(२)

धर्मध्यानके चार लक्षणोंको कहता हूँ। १ आज्ञारुचि—अर्थात् वीतराग भगवान्‌की आज्ञा अंगीकार करनेकी रुचि उत्पन्न होना। २ निसर्गरुचि—आत्माका अपने स्वाभाविक जातिस्मरण आदि ज्ञानसे श्रुतसहित चारित्र-धर्मको धारण करनेकी रुचि प्राप्त करना उसे निसर्गरुचि कहते हैं। ३ सूत्ररुचि—श्रुतज्ञान और अनंत तत्त्वके भेदोंके लिये कहे हुए भगवान्‌के पवित्र वचनोंका जिनमें गूँथन हुआ है, ऐसे सूत्रोंको श्रवण करने, मनन करने और भावसे पठन करनेकी रुचिका उत्पन्न होना सूत्ररुचि है। ४ उपदेशरुचि—अज्ञानसे उपार्जित कर्मोंको हम ज्ञानसे खपावें, और ज्ञानसे नये कर्मोंको न बाँधें; मिथ्यात्वके द्वारा उपार्जित कर्मोंको सम्यक्भावसे खपावें और सम्यक्भावसे नये कर्मोंको न बाँधें; अवैराग्यसे उपार्जित कर्मोंको वैराग्यसे खपावें और वैराग्यसे नये कर्मोंको न बाँधें; कषायसे उपार्जित कर्मोंको कषायको दूर करके खपावें और क्षमा आदिसे नये कर्मोंको न बाँधें; अशुभ योगसे उपार्जित कर्मोंको शुभ योगसे खपावें और शुभ योगसे नये कर्मोंको न बाँधें; पाँच इन्द्रियोंके स्वादरूप आस्रवसे उपार्जित कर्मोंको संवरसे खपावें और तपरूप (इच्छारोध) संवरसे नये कर्मोंको न बाँधें—इसके लिये अज्ञान आदि आस्रव-मार्ग छोड़कर ज्ञान आदि संवर-मार्ग ग्रहण करनेके लिये तीर्थंकर भगवान्‌के उपदेशको सुननेकी रुचिके उत्पन्न होनेको उपदेशरुचि कहते हैं। धर्मध्यानके ये चार लक्षण कहे।

धर्मध्यानके चार आलंबन कहता हूँ—१ वाचना, २ पृच्छना, ३ परावर्तना, ४ धर्मकथा।

१ वाचना—विनय सहित निर्जरा तथा ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सूत्र-सिद्धांतके मर्म जाननेवाले गुरु अथवा सत्पुरुषके समीप सूत्रतत्त्वके अभ्यास करनेको, वाचना आलंबन कहते हैं। २ पृच्छना—अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेके लिये जिनेश्वर भगवान्‌के मार्गको दिपाने तथा शंका-शल्यको निवारण करनेके लिये, तथा दूसरोंके तत्त्वोंकी मध्यस्थ परीक्षाके लिये यथायोग्य विनयसहित गुरु आदिसे प्रश्नोंके पूँछनेको पृच्छना कहते हैं। ३ परावर्त्तना—पूर्वमें जो जिनभाषित सूत्रार्थ पढ़े हों उन्हें स्मरणमें रखनेके लिये और निर्जराके लिये शुद्ध उपयोगसहित शुद्ध सूत्रार्थकी बारंबार सज्झाय करना परावर्त्तना आलंबन है। ४ धर्मकथा—वीतराग भगवान्‌ने जो भाव जैसा प्रणीत किया है, उस भावको उसी तरह समझकर, ग्रहणकर, विशेष रूपसे निश्चय करके, शंका कांक्षा वितिगिच्छारहित अपनी निर्जराके लिये सभामें उन भावोंको उसी तरह प्रणीत करना, जिससे सुननेवाले और श्रद्धा करनेवाले दोनों ही भगवान्‌की आज्ञाके आराधक हों, उसे धर्मकथा आलंबन कहते हैं। ये धर्मध्यानके चार आलंबन कहे। अब धर्मध्यानकी चार अनुप्रेक्षाएँ कहता हूँ—१ एकत्वानुप्रेक्षा, २ अनित्यानुप्रेक्षा, ३ अशरणानुप्रेक्षा, ४ संसारानुप्रेक्षा। इन चारोंका उपदेश बारह भावनाके पाठमें कहा जा चुका है। वह तुम्हें स्मरण होगा।

७६ धर्मध्यान
(३)

धर्मध्यानको पूर्व आचार्योंने और आधुनिक मुनीश्वरोंने भी विस्तारपूर्वक बहुत समझाया है। इस ध्यानसे आत्मा मुनित्वभावमें निरंतर प्रवेश करती जाती है।

जो जो नियम अर्थात् भेद, लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षा कहे हैं, वे बहुत मनन करने योग्य हैं। अन्य मुनीश्वरोंके कहे अनुसार मैंने उन्हें सामान्य भाषामें तुम्हें कहा है। इसके साथ निरंतर ध्यान रखनेकी आवश्यकता यह है कि इनमेंसे हमने कौनसा भेद प्राप्त किया, अथवा कौनसे भेदकी ओर भावना रक्खी है? इन सोलह भेदोंमें हर कोई हितकारी और उपयोगी है, परन्तु जिस अनुक्रमसे उन्हें ग्रहण करना चाहिये उस अनुक्रमसे ग्रहण करनेसे वे विशेष आत्म-लाभके कारण होते हैं।

बहुतसे लोग सूत्र-सिद्धांतके अध्ययन कंठस्थ करते हैं। यदि वे उनके अर्थ, और उनमें कहे मूल-तत्त्वोंकी ओर ध्यान दें तो वे कुछ नूतन भेदको पा सकते हैं। जैसे केलेके एक पत्रमें दूसरे और दूसरेमें तीसरे पत्रकी चमत्कृति है, वैसे ही सूत्रार्थमें भी चमत्कृति है। इसके ऊपर विचार करनेसे निर्मल और केवल दयामय मार्गके वीतराग-प्रणीत तत्त्वबोधका बीज अंतःकरणमें अंकुरित होगा। वह अनेक प्रकारके शास्त्रावलोकनसे, प्रश्नोत्तरसे, विचारसे और सत्पुरुषोंके समागमसे पोषण पाकर वृद्धि होकर वृक्षरूप होगा। वह पीछे निर्जरा और आत्म-प्रकाशरूप फल देगा।

श्रवण, मनन और निदिध्यासनके प्रकार वेदांतियोंने भी बताये हैं। परन्तु जैसे इस धर्मध्यानके पृथक् पृथक् सोलह भेद यहाँ कहे गये हैं वैसे तत्त्वपूर्वक भेद अन्यत्र कहीं पर भी नहीं कहे गये, यह अपूर्व है। इसमेंसे शास्त्रोंका श्रवण करनेका, मनन करनेका, विचारनेका, अन्यको बोध करनेका, शंका कंखा दूर करनेका, धर्मकथा करनेका, एकत्व विचारनेका, अनित्यता विचारनेका, अशरणता विचारनेका,

वैराग्य पानेका, संसारके अनंत दुःख मनन करनेका और वीतराग भगवंतकी आज्ञासे समस्त लोकालोकका विचार करनेका अपूर्व उत्साह मिलता है। भेद भेदसे इसके और अनेक भाव समझाये हैं।

इसमें कुछ भावोंके समझनेसे तप, शांति, क्षमा, दया, वैराग्य और ज्ञानका बहुत बहुत उदय होगा।

तुम कदाचित् इन सोलह भेदोंका पठन कर गये होगे तो भी फिर फिरसे उसका पुनरावर्तन करना।

७७ ज्ञानके संबंधमें दो शब्द

(१)

जिसके द्वारा वस्तुका स्वरूप जाना जाय उसे ज्ञान कहते हैं; ज्ञान शब्दका यही अर्थ है। अब अपनी बुद्धिके अनुसार विचार करना है कि क्या इस ज्ञानकी कुछ आवश्यकता है? यदि आवश्यकता है तो उसकी प्राप्तिके क्या साधन हैं? यदि साधन हैं तो क्या इन साधनोंके अनुकूल द्रव्य, देश, काल और भाव मौजूद हैं? यदि देश, काल आदि अनुकूल हैं तो वे कहाँ तक अनुकूल हैं? और विशेष विचार करें तो इस ज्ञानके कितने भेद हैं? जानने योग्य क्या है? इसके भी कितने भेद हैं? जाननेके कौन कौन साधन हैं? किस किस मार्गसे इन साधनोंको प्राप्त किया जाता है? इस ज्ञानका क्या उपयोग अथवा क्या परिणाम है? ये सब बातें जानना आवश्यक है।

१. ज्ञानकी क्या आवश्यकता है? पहले इस विषयपर विचार करते हैं। यह आत्मा इस चौदह राजू प्रमाण लोकमें चारों गतियोंमें अनादिकालसे कर्मसहित स्थितिमें पर्यटन करती है। जहाँ क्षणभर भी सुखका भाव नहीं ऐसे नरक, निगोद आदि स्थानोंको इस आत्माने बहुत बहुत कालतक बारम्बार सेवन किया है; असह्य दुःखोंको पुनः पुनः और कहो तो अनंतोबार सहन किया है। इस संतापसे निरंतर संतप्त आत्मा केवल अपने ही कर्मोंके विपाकसे घूमा करती है। इस घूमनेका कारण अनंत दुःख देनेवाले ज्ञानावरणीय आदि कर्म हैं; जिनके कारण आत्मा अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं कर सकती, और विषय आदि मोहके बंधनको अपना स्वरूप मान रही है। इन सबका परिणाम केवल ऊपर कहे अनुसार ही होता है, अर्थात् आत्माको अनंत दुःख अनंत भावोंसे सहन करने पड़ते हैं। कितना ही अप्रिय, कितना ही खेददायक और कितना ही रौद्र होनेपर भी जो दुःख अनंत कालसे अनंतबार सहन करना पड़ा, उस दुःखको केवल अज्ञान आदि कर्मसे ही सहन किया, इसलिये अज्ञान आदिको दूर करनेके लिये ज्ञानकी अत्यंत आवश्यकता है।

७८ ज्ञानके संबंधमें दो शब्द

(२)

२. अब ज्ञान-प्राप्तिके साधनोंके विषयमें कुछ विचार करें। अपूर्ण पर्याप्तिमें परिपूर्ण आत्म-ज्ञान सिद्ध नहीं होता, इस कारण छह पर्याप्तियोंसे युक्त देह ही आत्म-ज्ञानकी सिद्धि कर सकती है। ऐसी देह एक मानव-देह ही है। यहाँ प्रश्न उठेगा कि जिन्होंने मानव-देहको प्राप्त किया है, ऐसी अनेक आत्मायें हैं, तो वे सब आत्म-ज्ञानको क्यों नहीं प्राप्त करतीं? इसके उत्तरमें हम यह मान सकते हैं कि जिन्होंने सम्पूर्ण आत्म ज्ञानको प्राप्त किया है उनके पवित्र वचनामृतकी उन्हें श्रुति नहीं होती। श्रुतिके बिना संस्कार नहीं, और यदि संस्कार नहीं तो फिर श्रद्धा कहाँसे हो सकती है? और जहाँ इनमेंसे

एक भी नहीं रहो ज्ञान-प्राप्ति भी किससे हो ? इसीलिये मनुष्यदेहके साथ साथ पूर्वके उत्तमकुलकी प्राप्ति और इसकी श्रद्धा भी आवश्यक है । मनुष्यदेह उत्तमकुल अकर्मभूमि अथवा केवल अनार्यभूमिमें नहीं मिले, तो क्या आत्मज्ञान किस कामका ? इसलिये कर्मभूमि और उसमें भी आर्यभूमि — यह भी आवश्यक है । तत्त्वकी श्रद्धा उत्पन्न होनेके लिये और ज्ञान होनेके लिये निर्ग्रंथ गुरुकी आवश्यकता है । द्रव्यसे जो कुल मिथ्यात्वी है, उस कुलमें जन्म होना भी आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें हानिकारक ही होता है । क्योंकि धर्ममतभेद अत्यन्त दुःखदायक है । परंपरासे पूर्वजोंके द्वारा ग्रहण किये हुए दर्शनमें ही सत्य मालूम होने लगता है । इससे भी आत्मज्ञान रुकता है । इसलिये अच्छा कुल भी आवश्यक है । यह सब प्राप्त करनेके लिये भाग्यशाली होनेमें सत्पुण्य अर्थात् पुण्यानुबंधी पुण्य इत्यादि उत्तम साधन है । यह दूसरा साधन भेद कहा ।

३. यदि साधन है तो क्या उसके अनुकूल देश और काल है, इस तीसरे भेदका विचार करें । भरत, महाविदेह इत्यादि कर्मभूमि और उसमें भी आर्यभूमि देशरूपसे अनुकूल है । जिज्ञासु भव्य ! तुम सब इस समय भारतमें हो, और भारत देश अनुकूल है । काल भावकी अपेक्षासे मति और श्रुतज्ञान प्राप्त कर सकनेकी अनुकूलता भी है । क्योंकि इस दुषम पंचमकालमें परमावधि, मनःपर्यव, और केवल ये पवित्र ज्ञान परम्परा आम्नायके अनुसार विच्छेद हो गये हैं । सारांश यह है कि कालकी परिपूर्ण अनुकूलता नहीं ।

४. देश, काल आदि यदि कुछ भी अनुकूल है तो वे कहाँतक है ? इसका उत्तर यह है कि अवशिष्ट सैद्धांतिक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, सामान्य मतसे ज्ञान, कालकी अपेक्षासे इक्कीस हजार वर्ष रहेगा; इसमेंसे अढ़ाई हजार वर्ष बीत गये, अब साढ़े अठारह हजार वर्ष बाकी हैं, अर्थात् पंचमकालकी पूर्णतातक कालकी अनुकूलता है । इस कारणसे देश और काल अनुकूल है ।

७९ ज्ञानके संबंधमें दो शब्द

(३)

अब विशेष विचार करें ।

१. आवश्यकता क्या है ? इस मुख्य विचारपर गूढ़ और गंभीरतासे विचार करें तो मालूम होगा कि मुख्य आवश्यकता तो अपनी स्वरूप-स्थितिकी श्रेणी चढ़ना है । अनंत दुःखका नाश, और दुःखके नाशसे आत्माके श्रेयस्कर सुखकी सिद्धि यह हेतु है; क्योंकि आत्माको सुख निरन्तर ही प्रिय है । परन्तु यह सुख यदि स्वस्वरूपक सुख हो तभी प्रिय है । देश कालकी अपेक्षासे श्रद्धा ज्ञान इत्यादि उत्पन्न करनेकी आवश्यकता, और सम्यग् भावसहित उच्चगति, वहाँसे महाविदेहमें मानवदेहमें जन्म, वहाँ सम्यग् भावकी और भी उन्नति, तत्त्वज्ञानकी विशुद्धता और वृद्धि, अन्तमें परिपूर्ण आत्मसाधन, ज्ञान और उसका [illegible] सम्पूर्णरूपसे सब दुःखोंका अभाव अर्थात् अखंड, अनुपम, अनन्त शाश्वत, पवित्र मोक्ष [illegible] इन सबके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है ।

[illegible] इस ज्ञानके अनन्त भेद हैं; परन्तु [illegible] मुख्य पाँच भेद कहे हैं, उन्हें ज्यों का त्यों कहता

हैं—पहला मति, दूसरा श्रुत, तीसरा अवधि, चौथा मनःपर्यव और पाँचवाँ सम्पूर्णस्वरूप केवल। इनके भी प्रतिभेद हैं और उनके भी अतीन्द्रिय स्वरूपसे अनन्त भंगजाल हैं।

३. जानने योग्य क्या है ? अब इसका विचार करें। वस्तुके स्वरूपको जाननेका नाम ज्ञान है; तब वस्तु तो अनंत हैं, इन्हें किस पंक्तिसे जानें ? सर्वज्ञ होनेपर वे सत्पुरुष सर्वदर्शितासे अनंत वस्तुओंके स्वरूपको सब भेदोंसे जानते और देखते हैं, परन्तु उन्होंने इस सर्वज्ञ पदवीको किन किन वस्तुओंके जाननेसे प्राप्त किया ? जबतक अनंत श्रेणियोंको नहीं जाना तबतक किस वस्तुको जानते जानते वे अनन्त वस्तुओंको अनन्तरूपसे जान पावेंगे ? इस शंकाका अब समाधान करते हैं। जो अनंत वस्तुयें मानी हैं वे अनंत भंगोंकी अपेक्षासे हैं। परन्तु मुख्य वस्तुत्वकी दृष्टिसे उसकी दो श्रेणियाँ हैं—जीव और अजीव। विशेष वस्तुत्व स्वरूपसे नौ तत्त्व अथवा छह द्रव्यकी श्रेणियाँ मानी जा सकती हैं। इस पंक्तिसे चढ़ते चढ़ते सर्व भावसे ज्ञात होकर लोकालोकके स्वरूपको हस्तामलककी तरह जान और देख सकते हैं। इसलिये जानने योग्य पदार्थ तो केवल जीव और अजीव हैं। इस तरह जाननेकी मुख्य दो श्रेणियाँ कहाईं।

८० ज्ञानके संबंधमें दो शब्द

(४)

४. इनके उपभेदोंको संक्षेपमें कहता हूँ। 'जीव' चैतन्य लक्षणसे एकरूप है। देहस्वरूपसे और द्रव्यरूपसे अनंतानंत है। देहस्वरूपमें उसके इन्द्रिय आदि जानने योग्य हैं; उसकी गति, विगति इत्यादि जानने योग्य हैं; उसकी संसर्ग ऋद्धि जानने योग्य है। इसी तरह 'अजीव' के रूपी अरूपी पुद्गल आकाश आदि विचित्रभाव कालचक्र इत्यादि जानने योग्य हैं। प्रकारांतरसे जीव, अजीवको जाननेके लिये सर्वज्ञ सर्वदर्शीने नौ श्रेणिरूप नव तत्त्वको कहा है—

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष।

इनमें कुछ ग्रहण करने योग्य और कुछ त्यागने योग्य हैं। ये सब तत्त्व जानने योग्य तो हैं ही।

५. जाननेके साधन। यद्यपि सामान्य विचारसे इन साधनोंको जान लिया है फिर भी कुछ विशेष विचार करते हैं। भगवान्की आज्ञा और उसके शुद्ध स्वरूपको यथार्थरूपसे जानना चाहिये। स्वयं तो कोई विरले ही जानते हैं, नहीं तो इसे निर्ग्रन्थज्ञानी गुरु बता सकते हैं। रागहीन ज्ञाता सर्वोत्तम हैं। इसलिये श्रद्धाका बीज रोपण करनेवाला अथवा उसे पोषण करनेवाला गुरु केवल साधनरूप है। इन साधन आदिके लिये संसारकी निवृत्ति अर्थात् शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि अन्य साधन हैं। इन्हें साधनोंको प्राप्त करनेका मार्ग कहा जाय तो भी ठीक है।

६. इस ज्ञानके उपयोग अथवा परिणामके उत्तरका आशय ऊपर आ गया है; परन्तु कालभेदसे कुछ कहना है, और वह इतना ही कि दिनमें दो घड़ीका वक्त भी नियमितरूपसे निकालकर जिनेश्वर भगवान्के कहे हुए तत्त्वोपदेशकी पर्यटना करो। वीतरागके एक सैद्धांतिक शब्दसे ज्ञानावरणीयका बहुत क्षयोपशम होगा ऐसा मैं विवेकसे कहता हूँ।

८१ पंचमकाल

कालचक्रके विचारोंको अवश्य जानना चाहिये। श्री जिनेश्वरने इस कालचक्रके दो मुख्य भेद कहे

है—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। एक एक भेदके छह छह आरे हैं। आजकल चलता आरा पंचमकाल कहलाता है, और वह अवसर्पिणी कालका पाँचवा आरा है। अवसर्पिणी उतरते हुए कालको कहते हैं। इस उतरते हुए कालके पाँचवें आरेमें इस भरतक्षेत्रमें कैसा आचरण होना चाहिये इसके लिये सत्पुरुषोंने कुछ विचार बताये हैं, उन्हें अवश्य जानना चाहिये।

इन्होंने पंचमकालके स्वरूपको मुख्यरूपसे इस प्रकारका बताया है। निर्ग्रंथ प्रवचनके ऊपरसे मनुष्योंकी श्रद्धा क्षीण होती जायगी। धर्मके मूलतत्त्वोंमें मतमतांतरोंकी वृद्धि होगी। पाखंडी और प्रपंची मतोंका मंडन होगा। जन समूहकी रुचि अधर्मकी ओर फिरेगी। सत्य और दया धीमे धीमे पराभवको प्राप्त होंगे। मोह आदि दोषोंकी वृद्धि होती जायगी। दंभी और पापिष्ठ गुरु पूज्य होंगे। दुष्टवृत्तिके मनुष्य अपने फंदमें सफल होंगे। मीठे किन्तु धूर्त वक्ता पवित्र माने जायेंगे। शुद्ध ब्रह्मचर्य आदि शीलसे युक्त पुरुष मलिन कहलायेंगे। आत्मज्ञानके भेद नष्ट होते जायँगे। हेतुहीन क्रियायें बढ़ती जायेंगी। अज्ञान क्रियाका बहुधा सेवन किया जायगा। व्याकुल करनेवाले विषयोंके साधन बढ़ते जायँगे। एकांतवादी पक्ष सत्ताधीश होंगे। शृंगारसे धर्म माना जायेगा।

सच्चे क्षत्रियोंके बिना भूमि शोकसे पीड़ित होगी। निर्माल्य राजवंशी वेश्याके विलासमें मोहको प्राप्त होंगे; धर्म, कर्म और सच्ची राजनीति भूल जायँगे; अन्यायको जन्म देंगे; जैसे लूटा जायगा वैसे प्रजाको लूटेंगे; स्वयं पापिष्ठ आचरणको सेवनकर प्रजासे उन आचरणोंका पालन करायेंगे। राजवंशके नामपर शून्यता आती जायगी। नीच मंत्रियोंकी महत्ता बढ़ती जायगी। ये लोग दीन प्रजाको चूसकर भंडार भरनेका राजाको उपदेश देंगे; शील-भंग करनेके धर्मको राजाको अंगीकार करायेंगे; शौर्य आदि सद्गुणोंका नाश करायेंगे; मृगया आदि पापोंमें अंधे बनायेंगे। राज्याधिकारी अपने अधिकारसे हजार गुना अहंकार रक्खेंगे। ब्राह्मण लालची और लोभी हो जायँगे; सद्विद्याको दबा देंगे; संसारी साधनोंको धर्म ठहरायेंगे। वैश्य लोग मायावी, सर्वथा स्वार्थी और कठोर हृदयके होते जायँगे। समग्र मनुष्यवर्गकी सद्वृत्तियाँ घटती जायँगी। अकृत्य और भयंकर कृत्य करनेसे उनकी वृत्ति नहीं रुकेगी। विवेक, विनय, सरलता, इत्यादि सद्गुण घटते जायँगे। अनुकंपाका स्थान हीनता ले लेगी। माताकी अपेक्षा पत्नीमें प्रेम बढ़ेगा। पिताकी अपेक्षा पुत्रमें प्रेम बढ़ेगा। पातिव्रत्यको नियमसे पालनेवाली सुंदरियाँ घट जायँगी। स्नानसे पवित्रता मानी जायगी। धनसे उत्तम कुल गिना जायगा। शिष्य गुरुसे उलटा चलेंगे। भूमिका रस घट जायगा। संक्षेपमें कहनेका भावार्थ यह है कि उत्तम वस्तुओंकी क्षीणता और कनिष्ठ वस्तुका उदय होगा। पंचमकालका स्वरूप उक्त बातोंमेंका प्रत्यक्ष सूचन भी कितना अधिक करता है!

मनुष्य सद्धर्मतत्त्वमें परिपूर्ण श्रद्धावान नहीं हो सकता, सम्पूर्ण और तत्त्वज्ञान नहीं पा सकता। जम्बूस्वामीके निर्वाणके बाद दस निर्वाणी वस्तुएँ इस भरतक्षेत्रसे व्यवच्छेद हो गई।

पंचमकालका ऐसा स्वरूप जानकर विवेकी पुरुष तत्त्वको ग्रहण करेंगे; कालानुसार धर्मतत्त्वकी श्रद्धा प्राप्त कर उच्चगति साधकर अन्तमें मोक्ष प्राप्त करेंगे। निर्ग्रन्थ प्रवचन, निर्ग्रन्थ गुरु इत्यादि धर्म-तत्त्वके पानेके साधन हैं। इनकी आराधनासे कर्मकी विराधना है।

८२ तत्त्वावबोध

१

दशवैकालिक सूत्रमें कथन है कि जिसने जीवाजीवके भावोंको नहीं जाना वह अबुध संयममें कैसे स्थिर रह सकता है? इस वचनामृतका तात्पर्य यह है कि तुम आत्मा अनात्माके स्वरूपको जानो, इनके जाननेकी अत्यंत आवश्यकता है।

आत्मा अनात्माका सत्य स्वरूप निर्ग्रन्थ प्रवचनमेंसे ही प्राप्त हो सकता है। अनेक अन्य मतोंमें इन दो तत्त्वोंके विषयमें विचार प्रगट किये गये हैं, परन्तु वे यथार्थ नहीं हैं। महाप्रज्ञावान आचार्यों-द्वारा किये गये विवेचन सहित प्रकारांतरसे कहे हुए मुख्य नौ तत्त्वोंको जो विवेक बुद्धिसे जानता है, वह सत्पुरुष आत्माके स्वरूपको पहचान सकता है।

स्याद्वादकी शैली अनुपम और अनंत भाव-भेदोंसे भरी है। इस शैलीको परिपूर्णरूपसे तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ही जान सकते हैं, फिर भी इनके वचनामृतके अनुसार आगमकी मददसे बुद्धिके अनुसार नौ तत्त्वका स्वरूप जानना आवश्यक है। इन नौ तत्त्वोंको प्रिय श्रद्धा भावसे जाननेसे परम विवेक-बुद्धि, शुद्ध सम्यक्त्व और प्रभाविक आत्म-ज्ञानका उदय होता है। नौ तत्त्वोंमें लोकालोकका सम्पूर्ण स्वरूप आ जाता है। जितनी जिसकी बुद्धिकी गति है, उतनी वे तत्त्वज्ञानकी ओर दृष्टि पहुँचाते हैं, और भावके अनुसार उनकी आत्माकी उज्ज्वलता होती है। इससे वे आत्म-ज्ञानके निर्मल रसका अनुभव करते हैं। जिनका तत्त्वज्ञान उत्तम और सूक्ष्म है, तथा जो सुशीलयुक्त तत्त्वज्ञानका सेवन करते हैं वे पुरुष महान् भाग्यशाली हैं।

इन नौ तत्त्वोंके नाम पहिलेके शिक्षापाठमें मैं कह गया हूँ। इनका विशेष स्वरूप प्रज्ञावान् आचार्योंके महान् ग्रन्थोंसे अवश्य जानना चाहिये; क्योंकि सिद्धान्तमें जो जो कहा है उन सबके विशेष भेदोंके समझनेमें प्रज्ञावान् आचार्यों द्वारा विरचित ग्रंथ सहायभूत हैं। ये गुरुगम्य भी हैं। नय, निक्षेप और प्रमाणके भेद नवतत्त्वके ज्ञानमें आवश्यक हैं, और उनका यथार्थ ज्ञान इन प्रज्ञावानोंने बताया है।

८३ तत्त्वावबोध

(२)

सर्वज्ञ भगवन्तने लोकालोकके सम्पूर्ण भावोंको जाना और देखा और उनका उपदेश उन्होंने भव्य लोगोंको दिया। भगवन्तने अनंत ज्ञानके द्वारा लोकालोकके स्वरूपविषयक अनंत भेद जाने थे; परन्तु सामान्य मनुष्योंको उपदेशके द्वारा श्रेणी चढ़नेके लिए उन्होंने मुख्य नव पदार्थोंको बताया। इससे लोकालोकके सब भावोंका इनमें समावेश हो जाता है। निर्ग्रन्थ प्रवचनका जो जो सूक्ष्म उपदेश है वह तत्त्वकी दृष्टिसे नवतत्त्वमें समाविष्ट हो जाता है। तथा सम्पूर्ण धर्ममतोंका सूक्ष्म विचार इस नवतत्त्व-विज्ञानके एक देशमें आ जाता है। आत्माकी जो अनंत शक्तियाँ ढँकी हुई हैं उन्हें प्रकाशित करनेके लिये अर्हत् भगवानका पवित्र उपदेश है। ये अनंत शक्तियाँ उस समय प्रफुल्लित हो सकती हैं जब नवतत्त्व-विज्ञानका [illegible] ज्ञानी हो जाय।

सूक्ष्म द्वादशांगी ज्ञान भी इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका सहायरूप है, वह भिन्न भिन्न प्रकारसे इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका उपदेश करता है। इस कारण यह निःशंकरूपसे मानना चाहिये कि जिसने अनंत भावभेदसे नवतत्त्वको जान लिया वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गया।

यह नवतत्त्व त्रिपदीकी अपेक्षासे घटाना चाहिये। हेय, ज्ञेय और उपादेय अर्थात् त्याग करने योग्य, जानने योग्य, और ग्रहण करने योग्य, ये तीन भेद नवतत्त्व स्वरूपके विचारमें अन्तर्हित हैं।

प्रश्न—जो त्यागने योग्य है उसे जानकर हम क्या करेंगे? जिस गाँवमें जाना नहीं है उसका मार्ग पूछनेसे क्या प्रयोजन?

उत्तर—तुम्हारी इस शंकाका सहजमें ही समाधान हो सकता है। त्यागने योग्यको भी जानना आवश्यक है। सर्वज्ञ भी सब प्रकारके प्रपंचोंको जान रहे हैं। त्यागने योग्य वस्तुको जाननेका मूल तत्त्व यह है कि यदि उसे न जाना हो तो कभी अत्याज्य समझकर उस वस्तुका सेवन न हो जाय। एक गाँवसे दूसरे गाँवमें पहुँचनेतक रास्तेमें जो जो गाँव आते हों उनका रास्ता भी पूछना पड़ता है। नहीं तो इष्ट स्थानपर नहीं पहुँच सकते। जैसे उस गाँवके पूछनेपर भी उसमें ठहरते नहीं हैं, उसी तरह पाप आदि तत्त्वोंको जानना चाहिये किन्तु उन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार रास्तेमें आनेवाले गाँवोंको छोड़ते जाते हैं, उसी तरह उनका भी त्याग करना आवश्यक है।

८४ तत्त्वावबोध

(३)

नवतत्त्वका कालभेदसे जो सत्पुरुष गुरुके पाससे श्रवण, मनन और निदिध्यासनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे सत्पुरुष महापुण्यशाली और धन्यवादके पात्र हैं। प्रत्येक सुज्ञ पुरुषोंको मेरा विनयभाव-भूषित यही उपदेश है कि *नवतत्त्वको अपनी बुद्धि-अनुसार यथार्थ जानना चाहिये।*

महावीर भगवान्‌के शासनमें बहुतसे मतमतान्तर पड़ गये हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि तत्त्वज्ञानकी ओरसे उपासक-वर्गका लक्ष फिर गया। वे लोग केवल क्रियाभावमें ही लगे रहे, जिसका परिणाम दृष्टिगोचर है। वर्तमान खोजमें आयी हुई पृथिवीकी आबादी लगभग डेढ़ अरबकी गिनी जाती है; उसमें सब गच्छोंको मिलाकर जैन लोग केवल बीस लाख हैं। वे लोग श्रमणोपासक हैं। इनमेंसे मैं अनुमान करता हूँ कि दो हज़ार पुरुष भी मुश्किलसे नवतत्त्वको पढ़ना जानते होंगे। मनन और विचारपूर्वक जाननेवाले पुरुष तो उँगलियोंपर गिनने लायक भी न होंगे। तत्त्वज्ञानकी जब ऐसी पतित स्थिति हो गई है, तभी मतमतान्तर बढ़ गये हैं। एक कहावत है कि "सौ स्याने एक मत," इसी तरह अनेक तत्त्वविचारक पुरुषोंके मतमें बहुधा भिन्नता नहीं आती, इसलिये तत्त्वावबोध परम आवश्यक है।

इस नवतत्त्व-विचारके संबंधमें प्रत्येक मुनियोंसे मेरी विज्ञप्ति है कि वे विवेक और गुरुगम्यतासे इसके ज्ञानकी विशेषरूपसे वृद्धि करें, इससे उनके पवित्र पाँच महाव्रत दृढ़ होंगे; जिनेश्वरके वचनामृतके अनुपम आनन्दकी प्रसादी मिलेगी; मुनित्व-आचार पालनेमें सरल हो जायगा; ज्ञान और क्रियाके विशुद्ध रहनेसे सम्यक्त्वका उदय होगा; और परिणाममें संसारका अंत होगा।

८५ तत्त्वावबोध

(४)

जो श्रमणोपासक नवतत्त्वको पढ़ना भी नहीं जानते उन्हें उसे अवश्य जानना चाहिये। जाननेके बाद बहुत मनन करना चाहिये। जितना समझमें आ सके, उतने गंभीर आशयको गुरुगम्यतामें सद्भावसे समझना चाहिये। इससे आत्म-ज्ञानकी उज्ज्वलता होगी, और यमनियम आदिका बहुत पालन होगा।

नवतत्त्वका अभिप्राय नवतत्त्व नामकी किसी सामान्य लिखी हुई पुस्तकसे नहीं। परन्तु जिस जिस स्थल पर जिन जिन विचारोंको ज्ञानियोंने प्रणीत किया है, वे सब विचार नवतत्त्वमेंके किसी न किसी एक, दो अथवा विशेष तत्त्वोंके होते हैं। केवली भगवान्ने इन श्रेणियोंसे सकल जगत्मंडल दिखा दिया है। इससे जैसे जैसे नय आदिके भेदसे इस तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होगी वैसे वैसे अपूर्व आनन्द और निर्मलताकी प्राप्ति होगी। केवल विवेक, गुरुगम्यता और अप्रमादकी आवश्यकता है। यह नव तत्त्व-ज्ञान मुझे बहुत प्रिय है। *इसके रसानुभवी भी मुझे सदैव प्रिय हैं।*

कालभेदसे इस समय सिर्फ मति और श्रुत ये दो ज्ञान भरतक्षेत्रमें विद्यमान हैं, बाकीके तीन ज्ञान व्यवच्छेद हो गये हैं; तो भी ज्यों ज्यों पूर्ण श्रद्धासहित भावसे हम इस नवतत्त्वज्ञानके विचारोंकी गुफामें उतरते जाते हैं त्यों त्यों उसके भीतर अद्भुत आत्मप्रकाश, आनंद, समर्थ तत्त्वज्ञानकी स्फुरणा, उत्तम विनोद, गंभीर चमक और आश्चर्यचकित करनेवाले शुद्ध सम्यग्ज्ञानके विचारोंका बहुत अधिक उदय करते हैं। स्याद्वादवचनामृतके अनंत सुंदर आशयोंके समझनेकी शक्तिके इस कालमें इस क्षेत्रसे विच्छेद होनेपर भी उसके संबंधमें जो जो सुंदर आशय समझमें आते हैं, वे आशय अत्यन्त ही गंभीर तत्त्वोंसे भरे हुए हैं। यदि इन आशयोंको पुनः पुनः मनन किया जाय तो ये आशय चार्वाक-मतिके चंचल मनुष्योंको भी सद्धर्ममें स्थिर कर देनेवाले हैं। सारांश यह है कि संक्षेपमें, सब प्रकारकी सिद्धि, पवित्रता, महाशील, सूक्ष्म और गंभीर निर्मल विचार, स्वच्छ वैराग्यकी भेंट, ये सब तत्त्वज्ञानसे मिलते हैं।

८६ तत्त्वावबोध

(५)

एकबार एक समर्थ विद्वान्के साथ निर्ग्रन्थ प्रवचनकी चमत्कृतिके संबंधमें बातचीत हुई। इस संबंधमें उस विद्वान्ने कहा कि इतना मैं मानता हूँ कि महावीर एक समर्थ तत्त्वज्ञानी पुरुष थे, उन्होंने जो उपदेश किया है उसे ग्रहण करके प्रज्ञावन्त पुरुषोंने अंग उपांगकी योजना की है; उनके जो विचार हैं वे चमत्कृतिसे पूर्ण हैं, परन्तु इसके ऊपरसे इसमें लोकालोकका सब ज्ञान आ जाता है, यह मैं नहीं कह सकता। ऐसा होनेपर भी यदि आप इस संबंधमें कुछ प्रमाण देते हों तो मैं इस बातपर कुछ श्रद्धा कर सकता हूँ। इसके उत्तरमें मैंने यह कहा कि मैं कुछ जैनवचनामृतको यथार्थ तो क्या, परन्तु विशेष भेद सहित भी नहीं जानता; परन्तु जो कुछ सामान्यरूपसे जानता हूँ, इसके ऊपरसे भी प्रमाण अवश्य दे सकता हूँ। बादमें नव-तत्त्वविज्ञानके संबंधमें बातचीत चली। मैंने कहा

में समस्त सृष्टिका ज्ञान आ जाता है, परन्तु उसे यथार्थ समझनेकी शक्ति चाहिये। उन्होंने इस
नका प्रमाण माँगा। मैंने आठ कर्मोंके नाम लिये। इसके साथ ही यह सूचित किया कि इनके
ाय इससे भिन्न भावको दिखानेवाला आप कोई नौंवा कर्म ढूँढ़ निकालें; पाप और पुण्य प्रकृतियोंके
म लेकर मैंने कहा कि आप इनके सिवाय एक भी अधिक प्रकृति ढूँढ़ दें। यह कहनेपर अनुक्रमसे
त चली। सबसे पहले जीवके भेद कहकर मैंने पूँछा कि क्या इनमें आप कुछ न्यूनाधिक कहना चाहते
? अजीव द्रव्यके भेद बताकर पूँछा कि क्या आप इससे कुछ विशेष कहते हो? इसी प्रकार जब
तत्त्वके संबंधमें बातचीत हुई तो उन्होंने थोड़ी देर विचार करके कहा, यह तो महावीरकी कहनेके
ुत चमत्कृति है कि जीवका एक भी नया भेद नहीं मिलता। इसी तरह पाप पुण्य आदिकी एक
विशेष प्रकृति नहीं मिलती; तथा नौंवा कर्म भी नहीं मिलता। ऐसे ऐसे तत्त्वज्ञानके सिद्धांत जैन-
र्शनमें हैं, यह बात मेरे ध्यानमें न थी, इसमें समस्त सृष्टिका तत्त्वज्ञान कुछ अंशोंमें अवश्य आ
कता है।

८७ तत्त्वावबोध

(६)

इसका उत्तर इस ओरसे यह दिया गया कि अभी जो आप इतना कहते हैं वह तभीतक
हते हैं जब तक कि जैनधर्मके तत्त्व-विचार आपके हृदयमें नहीं आये, परन्तु मैं मध्यस्थतासे सत्य
हता हूँ कि इसमें जो विशुद्ध ज्ञान बताया गया है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है; और सर्व मतोंने
 ज्ञान बताया है वह महावीरके तत्त्वज्ञानके एक भागमें आ जाता है। इनका कथन स्याद्वाद है,
कपक्षीय नहीं।

आपने कहा कि कुछ अंशमें सृष्टिका तत्त्वज्ञान इसमें अवश्य आ सकता है, परन्तु यह मिश्र-
चन है। हमारे समझनेकी अल्पज्ञतासे ऐसा अवश्य हो सकता है परन्तु इससे इन तत्त्वोंमें कोई
पूर्णता है, ऐसी बात तो नहीं है। यह कोई पक्षपातयुक्त कथन नहीं। विचार करनेपर समस्त सृष्टिमेंसे
नके सिवाय कोई दसवाँ तत्त्व खोज करने पर कभी भी मिलनेवाला नहीं। इस संबंधमें प्रसंग आने-
र जब हम लोगोंमें बातचीत और मध्यस्थ चर्चा होगी तब समाधान होगा।

उत्तरमें उन्होने कहा कि इसके ऊपरसे मुझे यह तो निस्सन्देह है कि जैनदर्शन एक अद्भुत
र्शन है। श्रेणीपूर्वक आपने मुझे नव तत्त्वोंके कुछ भाग कहे हैं इससे मैं यह बेधड़क कह सकता हूँ
कि महावीर गुप्तभेदको पाये हुए पुरुष थे। इस प्रकार थोड़ीसी बातचीत करके "उप्पन्नेवा"
'विगमे वा" "धुवेइ वा" यह लब्धिवाक्य उन्होने मुझे कहा। यह कहनेके पश्चात् उन्होंने बताया
कि इन शब्दोंके सामान्य अर्थमें तो कोई चमत्कृति दिखाई नहीं देती। उत्पन्न होना, नाश होना, और
अचलता यही इन तीन शब्दोंका अर्थ है। परन्तु श्रीमान् गणधरोंने तो ऐसा उल्लेख किया है कि इन
वचनोंके गुरुमुखसे श्रवण करनेपर पहलेके भाविक शिष्योंको द्वादशांगीका आशयपूर्ण ज्ञान हो जाता
ा। इसके लिये मैंने कुछ विचार करके देखा भी, तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि ऐसा होना असंभव
; क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म माना हुआ सैद्धांतिक-ज्ञान इसमें कहाँसे समा सकता है? इस संबंधमें क्या
आप कुछ लक्ष पहुँचा सकेंगे?

८८ तत्त्वावबोध

(७)

उत्तरमें मैंने कहा कि इस कालमें तीन महा ज्ञानोंका भारतसे विच्छेद हो गया है; ऐसा होनेपर भी कोई सर्वज्ञ अथवा महा प्रज्ञावान् नहीं हूँ तो भी मेरा जितना सामान्य लक्ष पहुँच सकेगा उतना पहुँचाकर कुछ समाधान कर सकूँगा, यह मुझे संभव प्रतीत होता है। तब उन्होंने कहा कि यदि यह संभव हो तो यह त्रिपदी जीवपर "नास्ति" और "अस्ति" विचारसे घटाइये। वह इस तरह कि जीव क्या उत्पत्तिरूप है? तो कि नहीं। जीव क्या व्ययरूप है? तो कि नहीं। जीव क्या ध्रौव्यरूप है? तो कि नहीं, इस तरह एक बार घटाइये; और दूसरी बार जीव क्या उत्पत्तिरूप है? तो कि हाँ। जीव क्या व्ययरूप है? तो कि हाँ। जीव क्या ध्रौव्यरूप है? तो कि हाँ, ऐसे घटाइये। ये विचार समस्त मंडलमें एकत्र करके योजित किये हैं। इसे यदि यथार्थ नहीं कह सकते तो अनेक प्रकारके दूषण आ सकते हैं। यदि वस्तु व्ययरूप हो तो वह ध्रुवरूप नहीं हो सकती—यह पहली शंका है। यदि उत्पत्ति, व्यय और ध्रुवता नहीं तो जीवको किन प्रमाणोंसे सिद्ध करोगे—यह दूसरी शंका है। व्यय और ध्रुवताका परस्पर विरोधाभास है—यह तीसरी शंका है। जीव केवल ध्रुव है तो उत्पत्तिमें अस्ति कहना असत्य हो जायगा—यह चौथा विरोध। उत्पन्न जीवको ध्रुवरूप कहो तो उसे उत्पन्न किसने किया—यह पाँचवीं शंका और विरोध। इससे उसका अनादिपना जाता रहता है—यह छठी शंका है। केवल ध्रुव व्ययरूप है ऐसा कहो तो यह चार्वाक-मिश्रवचन हुआ—यह सातवाँ दोष है। उत्पत्ति और व्ययरूप कहोगे तो केवल चार्वाकका सिद्धांत कहा जायेगा—यह आठवाँ दोष है। उत्पत्तिका अभाव, व्ययका अभाव और ध्रुवताका अभाव कहकर फिर तीनोंका अस्तित्व कहना—ये छह दोष। इस तरह मिलाकर सब चौदह दोष होते हैं। केवल ध्रुवता निकाल देनेपर तीर्थंकरोंके वचन खंडित हो जाते हैं—यह पन्द्रहवाँ दोष है। उत्पत्ति ध्रुवता लेनेपर कर्त्ताकी सिद्धि होती है इससे सर्वज्ञके वचन खंडित हो जाते हैं—यह सोलहवाँ दोष है। उत्पत्ति व्ययरूपसे पाप पुण्य आदिका अभाव मान लें तो धर्माधर्म सबका लोप हो जाता है—यह सत्रहवाँ दोष है। उत्पत्ति व्यय और सामान्य स्थितिसे (केवल अचल नहीं) त्रिगुणात्मक माया सिद्ध होती है—यह अठारहवाँ दोष है।

८९ तत्त्वावबोध

(८)

इन कथनोंके सिद्ध न होनेपर इतने दोष आते हैं। एक जैन मुनिने मुझे और मेरे मित्र-मंडलसे ऐसा कहा था कि जैन सप्तभंगीनय अपूर्व है और इससे सब पदार्थ सिद्ध होते हैं। इसमें नास्ति अस्तिका अगम्य भेद सन्निविष्ट है। यह कथन सुनकर हम सब घर आये, फिर योजना करते करते इस लब्धिवाक्यको जीवपर घटाया। मैं समझता हूँ कि इस प्रकार नास्ति अस्तिके दोनों भाव जीवपर नहीं घट सकते। इससे लब्धिवाक्य भी क्लेशरूप हो जावेंगे। फिर भी इस ओर मेरी कोई तिरस्कारकी दृष्टि नहीं है।

इसके उत्तरमें मैंने कहा कि आपने जो नास्ति और अस्ति नयोंको जीवपर घटानेका विचार

किया है वह सुनिक्षेप शैलीसे नहीं, अर्थात् कभी इसमें एकांत पक्षका ग्रहण किया जा सकता है। और फिर मैं कोई स्याद्वाद-शैलीका यथार्थ जानकार नहीं, मंदबुद्धिसे लेशमात्र जानता हूँ। नास्ति अस्ति नयको भी आपने यथार्थ शैलीपूर्वक नहीं घटाया। इसलिये मैं तर्कसे जो उत्तर दे सकता हूँ उसे आप सुनें।

उत्पत्तिमें "नास्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "जीव अनादि अनंत है"। व्ययमें "नास्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "इसका किसी कालमें नाश नहीं होता"।

ध्रुवतामें "नास्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "एक देहमें वह सदाके लिये रहनेवाला नहीं"।

१० तत्त्वावबोध

(९)

उत्पत्तिमें "अस्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि जीवको मोक्ष होनेतक एक देहमेंसे च्युत होकर वह दूसरी देहमें उत्पन्न होता है"।

व्ययमें "अस्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि ' वह जिस देहमेंसे आया वहाँसे व्यय प्राप्त हुआ, अथवा प्रतिक्षण इसकी आत्मिक ऋद्धि विषय आदि मरणसे रुकी हुई है, इस प्रकार व्यय घटा सकते हैं।

ध्रुवतामें "अस्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "द्रव्यकी अपेक्षासे जीव किसी कालमें नाश नहीं होता, यह त्रिकाल सिद्ध है।"

अब इससे अर्थात् इन अपेक्षाओंको ध्यानमें रखनेसे मुझे आशा है कि दिये हुए दोष दूर हो जावेंगे।

१ जीव व्ययरूपसे नहीं है इसलिये ध्रौव्य सिद्ध हुआ–यह पहला दोष दूर हुआ।

२ उत्पत्ति, व्यय और ध्रुवता ये भिन्न भिन्न न्यायसे सिद्ध हैं; अर्थात् जीवका सत्यत्व सिद्ध हुआ–यह दूसरे दोषका परिहार हुआ।

३ जीवकी सत्य स्वरूपसे ध्रुवता सिद्ध हुई इससे व्यय नष्ट हुआ—यह तीसरे दोषका परिहार हुआ।

४ द्रव्यभावसे जीवकी उत्पत्ति असिद्ध हुई—यह चौथा दोष दूर हुआ।

५ जीव अनादि सिद्ध हुआ इसलिये उत्पत्तिसंबंधी पाँचवाँ दोष दूर हुआ।

६ उत्पत्ति असिद्ध हुई इसलिये कर्तासंबंधी छट्ठे दोषका परिहार हुआ।

७ [illegible] वाधा नहीं आती, [illegible] -मिश्र-वचन नामक सातवें [illegible] हुआ।

८ [illegible] पृथक् पृथक् देहमें सिद्ध हुए [illegible] नामक आठवें दोषका परिहार हुआ।

१४ शंकाका परस्पर विरोधाभास निकल जानेसे चौदह सर्वके साथ दोष दूर हुए।

१५ अनादि अनंतता सिद्ध होनेपर स्याद्वादका वचन सिद्ध हुआ यह पन्द्रहवें दोषका निराकरण हुआ।

१६ कर्ताके न सिद्ध होनेपर जिन-वचनकी सत्यता सिद्ध हुई इससे सोलहवें दोषका निराकरण हुआ।

१७ धर्माधर्म, देह आदिके पुनरावर्तन सिद्ध होनेसे सत्रहवें दोषका परिहार हुआ।

१८ ये सब बातें सिद्ध होनेपर त्रिगुणात्मक मायाके असिद्ध होनेसे अठारहवाँ दोष दूर हुआ।

९१ तत्त्वावबोध

(१०)

मुझे आशा है कि आपके द्वारा विचारकी हुई योजनाका इससे समाधान हुआ होगा। यह कुछ यथार्थ शैली नहीं घटाई, तो भी इसमें कुछ न कुछ विनोद अवश्य मिल सकता है। इसके ऊपर विशेष विवेचन करनेके लिए बहुत समयकी आवश्यकता है इसलिये अधिक नहीं कहता। परन्तु एक दो संक्षिप्त बात आपसे कहनी हैं, तो यदि यह समाधान ठीक ठीक हुआ हो तो उनको कहूँ। बादमें उनकी ओरसे संतोषजनक उत्तर मिला, और उन्होंने कहा कि एक दो बात जो आपको कहनी हो उन्हें सहर्ष कहो।

बादमें मैंने अपनी बातको संजीवित करके लब्धिके संबंधकी बात कही। यदि आप इस लब्धिके संबंधमें शंका करें अथवा इसे क्लेशरूप कहें तो इन वचनोंके प्रति अन्याय होता है। इसमें अत्यन्त उज्ज्वल आत्मिकशक्ति, गुरुगम्यता, और वैराग्यकी आवश्यकता है। जबतक यह नहीं तबतक लब्धिके विषयमें शंका रहना निश्चित है। परन्तु मुझे आशा है कि इस समय इस संबंधमें दो शब्द कहने निरर्थक नहीं होंगे। वे ये हैं। कि जैसे इस योजनाको नास्ति अस्तिपर घटाकर देखी वैसे ही इसमें भी बहुत सूक्ष्म विचार करनेके हैं। देहमें देहकी पृथक् पृथक् उत्पत्ति, च्यवन, विश्राम, गर्भाधान, पर्याप्ति, इन्द्रिय, सत्ता, ज्ञान, संज्ञा, आयुष्य, विषय इत्यादि अनेक कर्मप्रकृतियोंको प्रत्येक भेदसे लेनेपर जो विचार इस लब्धिसे निकलते हैं वे अपूर्व हैं। जहाँतक जिसका ध्यान पहुँचता है वहाँतक सब विचार करते हैं, परन्तु द्रव्यार्थिक भावार्थिक नयसे समस्त सृष्टिका ज्ञान इन तीन शब्दोंमें आ जाता है, उसका विचार कोई ही करते हैं; यह जब सद्गुरुके मुखकी पवित्र लब्धिरूपसे प्राप्त हो सकता है तो फिर इससे द्वादशांगी ज्ञान क्यों नहीं हो सकता? जगत्के कहते ही मनुष्यको एक घर, एक वास, एक गाँव, एक शहर, एक देश, एक खंड, एक पृथिवी यह सब छोड़कर असंख्यात द्वीप समुद्रादिसे भरपूर वस्तुओंका ज्ञान कैसे हो जाता है? इसका कारण केवल इतना ही है कि वह इस शब्दकी व्यापकताको समझे हुआ है, अथवा इसका लक्ष इसकी अमुक व्यापकतातक पहुँचा हुआ है, जिससे जगत् शब्दके कहते ही वह इतने बड़े मर्मको समझ जाता है। इसी तरह ऋजु और सरल सत्पात्र शिष्य निर्ग्रंथ गुरुसे इन तीन शब्दोंकी गम्यता प्राप्तकर द्वादशांगी ज्ञान प्राप्त करते थे। इस प्रकार वह लब्धि अल्पज्ञता होनेपर भी विवेकसे देखनेपर क्लेशरूप नहीं है।

९२ तत्त्वावबोध

(११)

यहाँ नवतत्त्वके संबंधमें है। जिस महावीरके क्षत्रिय-पुत्रने जगत् अनादि है ऐसे बेधड़क कहकर कर्त्ताको उड़ाया होगा उस पुरुषने क्या इसे कुछ सर्वज्ञताके गुप्त भेदके बिना किया होगा? तथा इनकी निर्दोषताके विषयमें जब आप पढ़ेंगे तो निश्चयसे ऐसा विचार करेंगे कि ये परमेश्वर थे। कर्त्ता न था और जगत् अनादि था तो ऐसा उसने कहा। इनके निष्पक्ष और केवल तत्त्वमय विचारोंपर आपको अवश्य मनन करना योग्य है। जैनदर्शनके अवर्णवादी जैन दर्शनको नहीं जानते इससे वे इसके साथ अन्याय करते हैं, वे ममत्वसे अधोगतिको प्राप्त होंगे।

इसके बाद बहुतसी बातचीत हुई। प्रसंग पाकर इस तत्त्वपर विचार करनेका वचन लेकर मैं हर्षसे वहाँसे उठा।

तत्त्वावबोधके संबंधमें यह कथन कहा। अनन्त भेदोंसे भरे हुए ये तत्त्वविचार कालभेदसे जितने जाने जायँ उतने जानने चाहिये; जितने ग्रहण किये जा सकें उतने ग्रहण करने चाहिये; और जितने त्याज्य दिखाई दें उतने त्यागने चाहिये।

इन तत्त्वोंको जो यथार्थ जानता है, वह अनन्त चतुष्टयसे विराजमान होता है, इसे सत्य समझना। इस नवतत्त्वके क्रमवार नाम रखनेमें जीवकी मोक्षसे निकटताका आधा अभिप्राय सूचित होता है।

९३ तत्त्वावबोध

(१२)

यह तो तुम्हारे ध्यानमें है कि जीव, अजीव इस क्रमसे अन्तमें मोक्षका नाम आता है। अब इसे एकके बाद एक रखते जायँ तो जीव और मोक्ष क्रमसे आदि और अंतमें आवेंगे—

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष।

मैंने पहिले कहा था कि इन नामोंके रखनेमें जीव और मोक्षको निकटता है, परन्तु यह निकटता तो न हुई, किन्तु जीव और अजीवकी निकटता हुई। वस्तुतः ऐसा नहीं है। अज्ञानसे ही तो इन दोनोंकी निकटता है; परन्तु ज्ञानसे जीव और मोक्षकी निकटता है, जैसे:—

अब देखो, इन दोनोंमें कुछ निकटता है ! हाँ, निर्दिष्ट निकटता आ गई है। परन्तु यह निकटता तो द्रव्यरूपसे है। जब भावसे निकटता आवे तभी इष्टसिद्धि होगी। द्रव्य-निकटताका साधन सत्परमात्मतत्त्व, सद्गुरुतत्त्व, और सद्धर्मतत्त्वको पहचानकर श्रद्धान करना है। भाव-निकटता अर्थात् केवल एक ही रूप होनेके लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र साधन रूप हैं।

इस चक्रसे यह भी आशंका हो सकती है कि यदि दोनों निकट है तो क्या बाकी रहे हुओंको छोड़ दें ? उत्तरमें मैं कहता हूँ कि यदि सम्पूर्णरूपसे त्याग कर सकते हो तो त्याग दो, इससे मोक्षरूप ही हो जाओगे। नहीं तो हेय, ज्ञेय और उपादेयका उपदेश ग्रहण करो, इससे आत्म-सिद्धि प्राप्त होगी।

९४ तत्त्वावबोध
(१३)

जो कुछ मैं कह गया हूँ वह कुछ केवल जैनकुलमें जन्म पानेवालोंके लिये ही नहीं, किन्तु सबके लिये है। इसी तरह यह भी निःसंदेह मानना कि मैं जो कहता हूँ वह निष्पक्षपात और परमार्थ बुद्धिसे कहता हूँ।

मुझे तुमसे जो धर्मतत्त्व कहना है वह पक्षपात अथवा स्वार्थबुद्धिसे कहनेका मेरा कुछ प्रयोजन नहीं। पक्षपात अथवा स्वार्थसे मैं तुम्हें अधर्मतत्त्वका उपदेश देकर अधोगतिकी सिद्धि क्यों करूँ ? बारम्बार तुम्हें मैं निर्ग्रन्थके वचनामृतके लिये कहता हूँ, उसका कारण यही है कि वे वचनामृत तत्त्वमें परिपूर्ण हैं। जिनेश्वरोंके ऐसा कोई भी कारण न था कि जिसके निमित्तसे वे मृषा अथवा पक्षपातयुक्त उपदेश देते, तथा वे अज्ञानी भी न थे कि जिससे उनसे मृषा उपदेश दिया जाता। यहाँ तुम शंका करोगे कि ये अज्ञानी नहीं थे यह किस प्रमाणसे मालूम हो सकता है ? तो इसके उत्तरमें मैं इनके पवित्र सिद्धांतोंके रहस्यको मनन करनेको कहता हूँ। और ऐसा जो करेगा वह पुनः लेश भी आशंका नहीं करेगा। जैनमतके प्रवर्तकोंके प्रति मुझे कोई राग बुद्धि नहीं है, कि जिससे पक्षपातवश मैं तुम्हें कुछ भी कह दूँ, इसी तरह अन्यमतके प्रवर्तकोंके प्रति मुझे कोई वैर बुद्धि नहीं कि मिथ्या ही इनका खंडन करूँ। दोनोंमें मैं तो मंदमति मध्यस्थरूप हूँ। बहुत बहुत मननसे और मेरी बुद्धि जहाँतक पहुँची वहाँतक विचार करनेसे मैं विनयपूर्वक कहता हूँ कि हे प्रिय भव्यो ! जैन दर्शनके समान एक भी पूर्ण और पवित्र दर्शन नहीं; वीतरागके समान एक भी देव नहीं; तैरकरके अनंत दुःखसे पार पाना हो तो इस सर्वज्ञ दर्शनरूप कल्पवृक्षका सेवन करो।

९५ तत्त्वावबोध
(१४)

जैन दर्शन इतनी अधिक सूक्ष्म विचार संकलनाओंसे भरा हुआ दर्शन है कि इसमें प्रवेश करनेमें भी बहुत समय चाहिये। ऊपर ऊपरसे अथवा किसी प्रतिपक्षीके कहनेसे अमुक वस्तुके संबंधमें अभिप्राय बना लेना अथवा अभिप्राय दे देना यह विवेकियोंका कर्तव्य नहीं। जैसे कोई तालाब लबालब भरा हो, उसका जल ऊपरसे समान मालूम होता है; परन्तु जैसे जैसे आगे बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे अधिक अधिक गहरापन आता जाता है फिर भी ऊपर तो जल सपाट ही रहता है; इसी तरह जगत्के सब धर्ममत एक तालाबके समान हैं, उन्हें ऊपरसे सामान्य सपाट देखकर समान कह

देना उचित नहीं। ऐसे कहनेवालोंने तत्त्वको भी नहीं पाया। जैनदर्शनके एक एक पवित्र सिद्धांत ऐसे हैं कि उनपर विचार करनेमें आयु पूर्ण हो जाय तो भी पार न मिले। अन्य सब धर्ममतोंके विचार जिनप्रणीत वचनामृत-सिंधुके आगे एक बिंदुके समान भी नहीं। जिसने जैनमतको जाना और सेवन किया, वह केवल वीतरागी और सर्वज्ञ हो जाता है। इसके प्रवर्तक कैसे पवित्र पुरुष थे! इसके सिद्धांत कैसे अखंड, सम्पूर्ण और दयामय हैं! इसमें दूषण तो कोई है ही नहीं! सर्वथा निर्दोष तो केवल जैन दर्शन ही है! ऐसा एक भी पारमार्थिक विषय नहीं कि जो जैनदर्शनमें न हो, और ऐसा एक भी तत्त्व नहीं कि जो जैनदर्शनमें न हो; एक विषयको अनंत भेदोंसे परिपूर्ण कहनेवाला जैनदर्शन ही है। इसके समान प्रयोजनभूत तत्त्व अन्यत्र कहीं भी नहीं हैं। जैसे एक देहमें दो आत्मायें नहीं होतीं उसी तरह समस्त सृष्टिमें दो जैन अर्थात् जैनके तुल्य दूसरा कोई दर्शन नहीं। ऐसा कहनेका कारण क्या? केवल उसकी परिपूर्णता, वीतरागिता, सत्यता और जगद्धितैषिता।

९६ तत्त्वावबोध
(१५)

न्यायपूर्वक इतना तो मुझे भी मानना चाहिये कि जब एक दर्शनको परिपूर्ण कहकर बात सिद्ध करनी हो तब प्रतिपक्षकी मध्यस्थबुद्धिसे अपूर्णता दिखानी चाहिये। परन्तु इन दोनों बातोंपर विवेचन करनेकी यहाँ जगह नहीं; तो भी थोड़ा थोड़ा कहता आया हूँ। मुख्यरूपसे यही कहना है कि यह बात जिसे रुचिकर मालूम न होती हो अथवा असंभव लगती हो, उसे जैनतत्त्व-विज्ञानी शास्त्रोंको और अन्यतत्त्व-विज्ञानी शास्त्रोंको मध्यस्थबुद्धिसे मननकर न्यायके काँटेपर तोलना चाहिये। इसके ऊपरसे अवश्य इतना महा वाक्य निकलेगा कि जो पहले डंकेकी चोट कहा गया था वही सच्चा है।

जगत् भेड़ियाधसान है। धर्मके मतभेदसंबंधी शिक्षापाठमें जैसा कहा जा चुका है कि अनेक धर्ममतोंके जाल फैल गये हैं। विशुद्ध आत्मा तो कोई ही होती है। विवेकसे तत्त्वकी खोज कोई ही करता है। इसलिये जैनतत्त्वोंको अन्य दार्शनिक लोग क्यों नहीं जानते, यह बात खेद अथवा आशंका करने योग्य नहीं।

फिर भी मुझे बहुत आश्चर्य लगता है कि केवल शुद्ध परमात्मतत्त्वको पाये हुए, सकलदूषणरहित, मृषा कहनेका जिनके कोई निमित्त नहीं ऐसे पुरुषके कहे हुए पवित्र दर्शनको स्वयं तो जाना नहीं, अपनी आत्माका हित तो किया नहीं, परन्तु अविवेकसे मतभेदमें पड़कर सर्वथा निर्दोष और पवित्र दर्शनको नास्तिक क्यों कहा? परन्तु ऐसा कहनेवाले जैनदर्शनके तत्त्वको नहीं जानते थे। तथा इसके तत्त्वको जाननेसे अपनी श्रद्धा डिग जायेगी, तो फिर लोग अपने पहले कहे हुए मतको नहीं मानेंगे; जिस लौकिक मतके आधारपर अपनी आजीविका टिकी हुई है, ऐसे वेद आदिकी महत्ता घटनेसे अपनी ही महत्ता घट जायगी; अपना मिथ्या स्थापित किया हुआ परमेश्वरपद नहीं चलेगा। इसलिये जैनतत्त्वमें प्रवेश करनेकी रुचिको मूलसे ही बंद करनेके लिये इन्होंने लोगोंको ऐसी धोका-पट्टी दी है कि जैनदर्शन तो नास्तिक दर्शन है। लोग तो विचारे डरपोक भेड़के समान हैं; इसलिये वे विचार भी कहाँसे करें? यह कहना कितना मृषा और अनर्थकारक है, इस बातको वे

ही जान सकते हैं जिन्होंने वीतरागप्रणीत सिद्धांत विवेकसे जाने हैं। संभव है, मेरे इस कहनेको मंदबुद्धि लोग पक्षपात मान बैठें।

९७ तत्त्वावबोध

(१६)

पवित्र जैनदर्शनको नास्तिक कहलानेवाले एक मिथ्या दलीलसे जीतना चाहते हैं और वह यह है कि जैनदर्शन परमेश्वरको इस जगत्का कर्त्ता नहीं मानता, और जो परमेश्वरको जगत्कर्त्ता नहीं मानता वह तो नास्तिक ही है इसप्रकारकी मान ली हुई बात भद्रिकजनोंको शीघ्र ही जा लगती है, क्योंकि उनमें यथार्थ विचार करनेकी प्रेरणा नहीं होती। परन्तु यदि इसके ऊपरसे यह विचार किया जाय कि फिर जैनदर्शन जगत्को अनादि अनंत किस न्यायसे कहता है? जगत्कर्त्ता न माननेका इसका क्या कारण है? इस प्रकार एकके बाद एक भेदरूप विचार करनेसे वे जैनदर्शनकी पवित्रताको समझ सकते हैं। परमेश्वरको जगत् रचनेकी क्या आवश्यकता थी? परमेश्वरने जगत्को रचा तो सुख दुःख बनानेका क्या कारण था? सुख दुःखको रचकर फिर मौतको किसलिये बनाया? यह लीला उसे किसको बतानी थी? जगत्को रचा तो किस कर्मसे रचा? उससे पहले रचनेकी इच्छा उसे क्यों न हुई? ईश्वर कौन है? जगत्के पदार्थ क्या हैं? और इच्छा क्या है? जगत्को रचा तो फिर इसने एक ही धर्मकी प्रवृत्ति रखनी थी; इस प्रकार भ्रमणामें डालनेकी क्या जरूरत थी? कदाचित् यह मान लें कि यह उस बिचारेसे भूल हो गई होगी! खैर क्षमा करते हैं, परन्तु ऐसी आवश्यकतासे अधिक अक्लमन्दी उसे कहाँसे सूझी कि उसने अपनेको ही मूलसे उखाड़नेवाले महावीर जैसे पुरुषोंको जन्म दिया? इनके कहे हुए दर्शनको जगत्में क्यों मौजूद रक्खा? अपने पैरपर अपने हाथसे कुल्हाड़ा मारनेकी उसे क्या आवश्यकता थी? एक तो मानो इस प्रकारके विचार, और अन्य दूसरे प्रकारके ये विचार कि जैनदर्शनके प्रवर्त्तकोंको क्या इससे कोई द्वेष था? यदि जगत्का कर्त्ता होता तो ऐसा कहनेसे क्या इनके लाभको कोई हानि पहुँचती थी? जगत्का कर्त्ता नहीं, जगत् अनादि अनंत है; ऐसा कहनेमें इनको क्या कोई महत्ता मिल जाती थी? इस प्रकारके अनेक विचारोंपर विचार करनेसे मालूम होगा कि जैसा जगत्का स्वरूप है, उसे वैसा ही पवित्र पुरुषोंने कहा है। इसमें भिन्नभेद कहनेको इनका लेशमात्र भी प्रयोजन न था। सूक्ष्मसे सूक्ष्म जंतुकी रक्षाका जिसने विधान किया है, एक रजकणसे लेकर समस्त जगत्के विचार जिसने सब भेदोंसहित कहे हैं, ऐसे पुरुषोंके पवित्र दर्शनको नास्तिक कहनेवाले किस गतिको पावेंगे, यह विचारनेसे दया आती है!

९८ तत्त्वावबोध

(१७)

जो न्यायसे जय प्राप्त नहीं कर सकता वह पीछेसे गाली देने लगता है। इसी तरह पवित्र जैनदर्शनके अखंड तत्त्वसिद्धांतोंका जब शंकराचार्य, दयानन्द संन्यासी वगैरह खंडन न कर सके तो "फिर वे " जैन नास्तिक है, सो चार्वाकमेंसे उत्पन्न हुआ है "—ऐसा कहने लगे। परन्तु यहाँ कोई प्रश्न करे कि महाराज! यह विवेचन आप पीछे करें। इन शब्दोंको कहनेमें समय विवेक अथवा

ज्ञानकी कोई जरूरत नहीं होती परन्तु आप इस बातका उत्तर दें कि जैनदर्शन वेदसे किस वस्तुमें उतरता हुआ है; इसका ज्ञान, इसका उपदेश, इसका रहस्य, और इसका सत्शील कैसा है उसे एक बार कहें तो सही। आपके वेदके विचार किस बाबतमें जैनदर्शनसे बढ़कर हैं? इस तरह जब वे मर्मस्थानपर आते हैं तो मौनके सिवाय उनके पास दूसरा कोई साधन नहीं रहता। जिन सत्पुरुषोंके वचनामृत और योगके बलसे इस सृष्टिमें सत्य, दया, तत्त्वज्ञान और महाशील उदय होते हैं, उन पुरुषोंकी अपेक्षा जो पुरुष शृंगारमें रचे पचे पड़े हुए हैं, जो सामान्य तत्त्वज्ञानको भी नहीं जानते, और जिनका आचार भी पूर्ण नहीं, उन्हें बढ़कर कहना, परमेश्वरके नामसे स्थापित करना, और सत्यस्वरूपकी निंदा करनी, परमात्मस्वरूपको पाये हुओंको नास्तिक कहना,—ये सब बातें इनके कितने अधिक कर्मकी बहुलताको सूचित करती हैं! परन्तु जगत् मोहसे अंध है; जहाँ मतभेद है वहाँ अँधेरा है; जहाँ ममत्व अथवा राग है वहाँ सत्य तत्त्व नहीं। ये बातें हमें क्यों न विचारनी चाहिये?

मैं तुम्हें निर्ममत्व और न्यायकी एक मुख्य बात कहता हूँ। वह यह है कि तुम चाहे किसी भी दर्शनको मानो; फिर जो कुछ भी तुम्हारी दृष्टिमें आवे वैसा जैनदर्शनको कहो। सब दर्शनोंके शास्त्र-तत्त्वोंको देखो, तथा जैनतत्त्वोंको भी देखो। स्वतंत्र आत्म-शक्तिसे जो योग्य मालूम हो उसे अंगीकार करो। मेरे कहनेको अथवा अन्य किसी दूसरेके कहनेको भले ही एकदम तुम न मानो परन्तु तत्त्वको विचारो।

९९ समाजकी आवश्यकता

आंग्लदेशवासियोंने संसारके अनेक कलाकौशलोंमें किस कारणसे विजय प्राप्त की है? यह विचार करनेसे हमें तत्काल ही मालूम होगा कि उनका बहुत उत्साह और इस उत्साहमें अनेकोंका मिल जाना ही उनकी सफलताका कारण है। कलाकौशलके इस उत्साही काममें इन अनेक पुरुषोंके द्वारा स्थापित सभा अथवा समाजको क्या परिणाम मिला? तो उत्तरमें यही कहा जायगा कि लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार। इनके इस उदाहरणके ऊपरसे इस जातिके कलाकौशलकी खोज करनेका मैं यहाँ उपदेश नहीं देता, परन्तु सर्वज्ञ भगवान्का कहा हुआ गुप्त तत्त्व प्रमाद-स्थितिमें आ पड़ा है, उसे प्रकाशित करनेके लिये तथा पूर्वाचार्योंके गूँथे हुए महान् शास्त्रोंको एकत्र करनेके लिये, पड़े हुए गच्छोंके मतमतांतरको हटानेके लिये तथा धर्म-विद्याको प्रफुल्लित करनेके लिये सदाचरणी श्रीमान् और धीमान् दोनोंको मिलकर एक महान् समाजकी स्थापना करनेकी आवश्यकता है, यह कहना चाहता हूँ। पवित्र स्याद्वादमतके ढँके हुए तत्त्वोंको प्रसिद्धिमें लानेका जबतक प्रयत्न नहीं होता, तबतक शासनकी उन्नति भी नहीं होगी। संसारी कलाकौशलसे लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार मिलते हैं, परन्तु इस धर्म-कलाकौशलसे तो सर्व सिद्धि प्राप्त होगी। महान् समाजके अंतर्गत उपसमाजोंको स्थापित करना चाहिये। सम्प्रदायके बाड़ेमें बैठे रहनेकी अपेक्षा मतमतांतर छोड़कर ऐसा करना उचित है। मैं चाहता हूँ कि इस उद्देश्यकी सिद्धि होकर जैनोंके अंतर्गच्छ मतभेद दूर हों; सत्य वस्तुके ऊपर मनुष्य-समाजका लक्ष आवे; और ममत्व दूर हो।

१०० मनोनिग्रहके विघ्न

बारम्बार जो उपदेश किया गया है, उसमेंसे मुख्य तात्पर्य यही निकलता है कि आत्माका

उद्धार करो और उद्धार करनेके लिये तत्त्वज्ञानका प्रकाश करो; तथा सत्शीलका सेवन करो। इसे प्राप्त करनेके लिये जो जो मार्ग बताये गये हैं वे सब मनोनिग्रहताके आधीन हैं। मनोनिग्रहता होनेके लिये लक्षकी बहुलता करना जरूरी है। बहुलता करनेमें निम्नलिखित दोष विघ्नरूप होते हैं:—

१ आलस्य.
२ अनियमित निद्रा.
३ विशेष आहार.
४ उन्माद प्रकृति.
५ मायाप्रपंच.
६ अनियमित काम.
७ अकरणीय विलास.
८ मान.
९ मर्यादासे अधिक काम.
१० अपनी बड़ाई.
११ तुच्छ वस्तुसे आनन्द
१२ रसगारवलुब्धता.
१३ अतिभोग.
१४ दूसरेका अनिष्ट चाहना.
१५ कारण विना संचय करना.
१६ बहुतोंका स्नेह.
१७ अयोग्य स्थलमें जाना.
१८ एक भी उत्तम नियमका नहीं पालना.

जबतक इन अठारह विघ्नोंसे मनका संबंध है तबतक अठारह पापके स्थान क्षय नहीं होंगे। इन अठारह दोषोंके नष्ट होनेसे मनोनिग्रहता और अभीष्ट सिद्धि हो सकती है। जबतक इन दोषोंकी मनसे निकटता है तबतक कोई भी मनुष्य आत्म-सिद्धि नहीं कर सकता। अति भोगके बदलेमें केवल सामान्य भोग ही नहीं, परन्तु जिसने सर्वथा भोगत्याग व्रतको धारण किया है, तथा जिसके हृदयमें इनमेंसे किसी भी दोषका मूल न हो वह सत्पुरुष महान् भाग्यशाली है।

१०१ स्मृतिमें रखने योग्य महावाक्य

१ नियम एक तरहसे इस जगत्‌का प्रवर्तक है।

२ जो मनुष्य सत्पुरुषोंके चरित्रके रहस्यको पाता है वह परमेश्वर हो जाता है।

३ चंचल चित्त सब विषम दुःखोंका मूल है।

४ बहुतोंका मिलाप और थोड़ोंके साथ अति समागम ये दोनों समान दुःखदायक हैं।

५ समस्वभावीके मिलनेको ज्ञानी लोग एकान्त कहते हैं।

६ इन्द्रियाँ तुम्हें जीतें और तुम सुख मानो इसकी अपेक्षा तुम इन्द्रियोंके जीतनेसे ही सुख, आनन्द और परमानन्द प्राप्त करोगे।

७ राग बिना संसार नहीं और संसार बिना राग नहीं।

८ युवावस्थाका सर्वसंगका परित्याग परमपदको देता है।

९ उस वस्तुके विचारमें पहुँचो कि जो वस्तु अतीन्द्रियस्वरूप है।

१० गुणियोंके गुणोंमें अनुरक्त होओ।

१०२ विविध प्रश्न

(१)

आज तुम्हें मैं बहुतसे प्रश्नोंको निर्ग्रन्थ प्रवचनके अनुसार उत्तर देनेके लिये पूछता हूँ।

प्र.—कहिये धर्मकी क्या आवश्यकता है?

उ.—अनादि कालसे आत्माके कर्म-जाल दूर करनेके लिये ।

प्र.—जीव पहला अथवा कर्म ?

उ.—दोनों अनादि हैं । यदि जीव पहले हो तो इस विमल वस्तुको मल लगनेका कोई निमित्त चाहिये । यदि कर्मको पहले कहो तो जीवके बिना कर्म किया किसने ? इस न्यायसे दोनों अनादि हैं।

प्र.—जीव रूपी है अथवा अरूपी ?

उ.—रूपी भी है और अरूपी भी है ।

प्र.—रूपी किस न्यायसे और अरूपी किस न्यायसे, यह कहिये ?

उ.—देहके निमित्तसे रूपी है और अपने स्वरूपसे अरूपी है ।

प्र.—देह निमित्त किस कारणसे है ?

उ.—अपने कर्मोंके विपाकसे ।

प्र.—कर्मोंकी मुख्य प्रकृतियाँ कितनी हैं ?

उ.—आठ ।

प्र.—कौन कौन ?

उ.—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय ।

प्र.—इन आठों कर्मोंका सामान्यस्वरूप कहो ।

उ.—आत्माकी ज्ञानसंबंधी अनंत शक्तिके आच्छादन हो जानेको ज्ञानावरणीय कहते हैं । आत्माकी अनंत दर्शन शक्तिके आच्छादन हो जानेको दर्शनावरणीय कहते हैं । देहके निमित्तसे साता, असाता दो प्रकारके वेदनीय कर्मोंसे अव्याबाध सुखरूप आत्माकी शक्तिके रुके रहनेको वेदनीय कहते हैं । आत्मचारित्ररूप शक्तिके रुके रहनेको मोहनीय कहते हैं । अक्षय स्थिति गुणके रुके रहनेको आयुकर्म कहते हैं । अमूर्तिरूप दिव्यशक्तिके रुके रहनेको नामकर्म कहते हैं । अटल अवगाहनारूप आत्मिक शक्तिके रुके रहनेको गोत्रकर्म कहते हैं । अनंत दान, लाभ, वीर्य, भोग और उपभोग शक्तिके रुके रहनेको अंतराय कहते हैं ।

१०३ विविध प्रश्न

(२)

प्र.—इन कर्मोंके क्षय होनेसे आत्मा कहाँ जाती है ?

उ.—अनंत और शाश्वत मोक्षमें ।

प्र.—क्या इस आत्माकी कभी मोक्ष हुई है ?

उ.—नहीं ।

प्र.—क्यों ?

उ.—मोक्ष-प्राप्त आत्मा कर्म-मलसे रहित है, इसलिये इसका पुनर्जन्म नहीं होता ।

प्र.—केवलीके क्या लक्षण हैं ?

उ.—चार घनघाती कर्मोंका क्षय करके और शेष चार कर्मोंको कृश करके जो पुरुष त्रयोदश गुणस्थानवर्ती होकर विहार करते हैं, वे केवली हैं ।

प्र.—गुणस्थानक कितने हैं?

उ.—चौदह।

प्र.—उनके नाम कहिये।

उ.—१ मिथ्यात्वगुणस्थानक। २ सास्वादन (सासादन) गुणस्थानक। ३ मिश्रगुणस्थानक। ४ अव्रतिसम्यग्दृष्टिगुणस्थानक। ५ देशविरतिगुणस्थानक। ६ प्रमत्तसंयतगुणस्थानक। ७ अप्रमत्तसंयतगुणस्थानक। ८ अपूर्वकरणगुणस्थानक। ९ अनिवृत्तिबादरगुणस्थानक। १० सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानक। ११ उपशांतमोहगुणस्थानक। १२ क्षीणमोहगुणस्थानक। १३ सयोगकेवलीगुणस्थानक। १४ अयोगकेवलीगुणस्थानक।

१०४ विविध प्रश्न

(३)

प्र.—केवली तथा तीर्थंकर इन दोनोंमें क्या अंतर है?

उ.—केवली तथा तीर्थंकर शक्तिमें समान हैं, परन्तु तीर्थंकरने पहिले तीर्थंकर नामकर्मका बंध किया है, इसलिये वे विशेषरूपसे बारह गुण और अनेक अतिशयोंको प्राप्त करते हैं।

प्र.—तीर्थंकर घूम घूम कर उपदेश क्यों देते हैं? वे तो वीतरागी हैं।

उ.—पूर्वमें बाँधे हुए तीर्थंकर नामकर्मके वेदन करनेके लिये उन्हें अवश्य ऐसा करना पड़ता है।

प्र.—आजकल प्रचलित शासन किसका है?

उ.—श्रमण भगवान् महावीरका।

प्र.—क्या महावीरसे पहले जैनदर्शन था?

उ.—हाँ, था।

प्र.—उसे किसने उत्पन्न किया था?

उ.—उनके पहलेके तीर्थंकरोंने।

प्र.—उनके और महावीरके उपदेशमें क्या कोई भिन्नता है?

उ.—तत्त्वदृष्टिसे एक ही है। भिन्न भिन्न पात्रको लेकर उनका उपदेश होनेसे और कुछ कालभेद होनेके कारण सामान्य मनुष्यको भिन्नता अवश्य मालूम होती है, परन्तु न्यायसे देखनेपर उसमें कोई भिन्नता नहीं है।

प्र.—इनका मुख्य उपदेश क्या है?

उ.—उनका उपदेश यह है कि आत्माका उद्धार करो, आत्माकी अनंत शक्तियोंका प्रकाश करो और इसे कर्मरूप अनंत दुःखसे मुक्त करो।

प्र.—इसके लिये उन्होंने कौनसे साधन बताये हैं?

उ.—व्यवहार नयसे सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुका स्वरूप जानना; सद्देवका गुणगान करना; तीन प्रकारके धर्मका आचरण करना; और निर्ग्रंथ गुरुसे धर्मका स्वरूप समझना।

प्र.—तीन प्रकारका धर्म कौनसा है?

उ.—सम्यग्ज्ञानरूप, सम्यग्दर्शनरूप और सम्यक्चारित्ररूप।

१०५ विविध प्रश्न

(४)

प्र.—ऐसा जैनदर्शन यदि सर्वोत्तम है तो सब जीव इसके उपदेशको क्यों नहीं मानते ?

उ.—कर्मकी बाहुल्यतासे, मिथ्यात्वके जमे हुए मलसे और सत्समागमके अभावसे।

प्र.—जैनदर्शनके मुनियोंका मुख्य आचार क्या है ?

उ.—पाँच महाव्रत, दश प्रकारका यतिधर्म, सत्रह प्रकारका संयम, दस प्रकारका वैयावृत्य, नव प्रकारका ब्रह्मचर्य, बारह प्रकारका तप, क्रोध आदि चार प्रकारके कषायोंका निग्रह; इनके सिवाय ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रका आराधन इत्यादि अनेक भेद हैं।

प्र.—जैन मुनियोंके समान ही संन्यासियोंके पाँच याम हैं; बौद्धधर्मके पाँच महाशील हैं, इसलिये इस आचारमें तो जैनमुनि, संन्यासी तथा बौद्धमुनि एकसे हैं न ?

उ.—नहीं।

प्र.—क्यों नहीं ?

उ.—इनके पंचयाम और पंच महाशील अपूर्ण हैं। जैनदर्शनमें महाव्रतके भेद प्रतिभेद अति सूक्ष्म हैं। पहले दोनोंके स्थूल हैं।

प्र.—सूक्ष्मताके लिये कोई दृष्टांत दीजिये।

उ.—दृष्टांत स्पष्ट है। पंचयामी कंदमूल आदि अभक्ष्य खाते हैं; सुखशय्यामें सोते हैं; विविध प्रकारके वाहन और पुष्पोंका उपभोग करते हैं; केवल शीतल जलसे अपना व्यवहार चलाते हैं; रात्रिमें भोजन करते हैं। इसमें होनेवाला असंख्याती जीवोंका नाश, ब्रह्मचर्यका भंग इत्यादिकी सूक्ष्मताको वे नहीं जानते। तथा बौद्धमुनि माँस आदि अभक्ष्य और सुखशील साधनोंसे युक्त हैं। जैन मुनि तो इनसे सर्वथा विरक्त हैं।

१०६ विविध प्रश्न

(५)

प्र.—वेद और जैनदर्शनकी प्रतिपक्षता क्या वास्तविक है ?

उ.—जैनदर्शनकी इससे किसी विरोधी भावसे प्रतिपक्षता नहीं, परन्तु जैसे सत्यका असत्य [illegible] [illegible] जैनदर्शनके साथ वेदका [illegible] है।

उ.—हमें जबतक आत्माकी अनंत शक्तिकी लेशभर भी दिव्य प्रसादी नहीं मिलती तभीतक ऐसा लगा करता है; परन्तु तत्त्वज्ञान होनेपर ऐसा नहीं होगा। सन्मतितर्क आदि ग्रंथोंका आप अनुभव करेंगे तो यह शंका दूर हो जावेगी।

प्र.—परन्तु समर्थ विद्वान् अपनी मृषा बातको भी दृष्टांत आदिसे सिद्धांतपूर्ण सिद्ध कर देते हैं; इसलिये यह खंडित नहीं हो सकती परन्तु इसे सत्य कैसे कह सकते हैं?

उ.—परन्तु इन्हें मृषा कहनेका कुछ भी प्रयोजन न था, और थोड़ी देरके लिये ऐसा मान भी लें कि हमें ऐसी शंका हुई कि यह कथन मृषा होगा, तो फिर जगत्कर्त्ताने ऐसे पुरुषको जन्म भी क्यों दिया? ऐसे नाम डुबानेवाले पुत्रको जन्म देनेकी उसे क्या जरूरत थी? तथा ये पुरुष तो सर्वज्ञ थे; जगत्का कर्त्ता सिद्ध होता तो ऐसे कहनेमें उनकी कुछ हानि न थी।

१०७ जिनेश्वरकी वाणी

जो अनंत अनंत भाव-भेदोंसे भरी हुई है, अनंत अनंत नय निक्षेपोंसे जिसकी व्याख्या की गई है, जो सम्पूर्ण जगत्की हित करनेवाली है, जो मोहको हटानेवाली है, संसार-समुद्रसे पार करनेवाली है, जो मोक्षमें पहुँचानेवाली है, जिसे उपमा देनेकी इच्छा रखना भी व्यर्थ है, जिसे उपमा देना मानो अपनी बुद्धिका ही माप दे देना है ऐसा मैं मानता हूँ; अहो रायचन्द्र! इस बातको बाल-मनुष्य ध्यानमें नहीं लाते कि ऐसी जिनेश्वरकी वाणीको विरले ही जानते हैं ॥ १ ॥

१०८ पूर्णमालिका मंगल

जो तप और ध्यानसे रविरूप होता है और उनकी सिद्धि करके जो सोमरूपसे शोभित होता है। बादमें वह महामंगलकी पदवी प्राप्त करता है, जहाँ वह बुधको प्रणाम करनेके लिये आता है। तत्पश्चात् वह सिद्धिदायक निर्ग्रन्थ गुरु अथवा पूर्ण व्याख्याता स्वयं शुक्रका स्थान ग्रहण करता है। उस दशामें तीनों योग मंद पड़ जाते हैं, और आत्मा स्वरूप-सिद्धिमें विचरती हुई विश्राम लेती है।

---

१०७ जिनेश्वरनी वाणी

मनहर छंद

अनंत अनंत भाव भेदथी भरेली भली, अनंत अनंत नय निक्षेपे व्याख्यानी छे;
सकळ जगत हितकारिणी हारिणी मोह, तारिणी भवाब्धि मोक्षचारिणी प्रमाणी छे;
उपमा आप्यानी जेने, तमा राखवी ते व्यर्थ, आपवाथी निज मति मपाई मे मानी छे;
अहो! राजचन्द्र बाळ ख्याल नथी पामता ए, जिनेश्वरतणी वाणी जाणी तेणे जाणी छे ॥ १ ॥

१०८ पूर्णमालिका मंगल

उपजाति

तपोपध्याने रविरूप थाय, ए साधिने सोम रही सुहाय,
महान ते मंगळ पंक्ति पामे, आवे पछी ते बुधना प्रणामे ॥ १ ॥
निर्ग्रन्थ ज्ञाता गुरु सिद्धि दाता, कां तो स्वयं शुक्र प्रपूर्ण ख्याता,
त्रियोग त्यां केवळ मंद पामे, स्वरूप सिद्धे विचरी विरामे ॥ २ ॥

५

ॐ

भावनाबोध

उपोद्घात

सच्चा सुख किसमें है? चाहे जैसे तुच्छ विषयमें प्रवेश होनेपर भी उज्ज्वल आत्माओंकी स्वाभाविक अभिरुचि वैराग्यमें लग जानेकी ओर रहा करती है। बाह्य दृष्टिसे जबतक उज्ज्वल आत्मायें संसारके मायामय प्रपंचमें लगी हुई दिखाई देती हैं तबतक इस कथनका सिद्ध होना शायद कठिन है, तो भी सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करनेपर इस कथनका प्रमाण बहुत आसानीसे मिल जाता है, इसमें संदेह नहीं।

सूक्ष्मसे सूक्ष्म जंतुसे लेकर मदोन्मत्त हाथी तकके सब प्राणियों, मनुष्यों, और देव-दानवों आदि सबकी स्वाभाविक इच्छा सुख और आनंद प्राप्त करनेकी है, इस कारण वे इसकी प्राप्तिके उद्योगमें लगे रहते हैं; परन्तु उन्हें विवेक-बुद्धिके उदयके विना उसमें भ्रम होता है। वे संसारमें नाना प्रकारके सुखका आरोप कर लेते हैं। गहरा अवलोकन करनेसे यह सिद्ध होता है कि यह आरोप वृथा है। इस आरोपको उड़ा देनेवाले विरले मनुष्य अपने विवेकके प्रकाशके द्वारा अद्भुत इनके अतिरिक्त अन्य विषयोंको प्राप्त करनेके लिये कहते आये हैं। जो सुख भयसे युक्त है, वह सुख सुख नहीं परन्तु दुःख है। जिस वस्तुके प्राप्त करनेमें महाताप है, जिस वस्तुके भोगनेमें इससे भी विशेष संताप सन्निविष्ट है, तथा परिणाममें महाताप, अनंत शोक, और अनंत भय छिपे हुए हैं, उस वस्तुका सुख केवल नामका सुख है; अथवा बिलकुल है ही नहीं। इस कारण विवेकी लोग उसमें अनुराग नहीं करते। संसारके प्रत्येक सुखसे संपन्न राजेश्वर होनेपर भी सत्य तत्त्वज्ञानकी प्रसादी प्राप्त होनेके कारण उसका त्याग करके योगमें परमानंद मानकर भर्तृहरि सत्य मनोवीरतासे अन्य पामर आत्माओंको उपदेश देते हैं कि —

> भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
> माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे तरुण्या भयं।
> शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
> सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयं ॥ १ ॥

महायोगी भर्तृहरिका यह कथन सृष्टिमान्य अर्थात् समस्त उज्ज्वल आत्माओंको सदैव मान्य रखने योग्य है। इसमें समस्त तत्त्वज्ञानका दोहन करनेके लिये इन्होंने सकल तत्त्ववेत्ताओंके सिद्धांतका रहस्य और संसार-शोकके स्वानुभवका जैसेका तैसा चित्र खींच दिया है। इन्होंने जिन जिन वस्तुओंपर भयकी छाया दिखाई है वे सब वस्तुयें संसारमें मुख्यरूपसे सुखरूप मानी गई हैं। संसारकी सर्वोत्तम विभूति जो भोग हैं, वे तो रोगोंके धाम ठहरे; मनुष्य ऊँचे कुलोंसे सुख माननेवाला है, वहाँ च्युत होनेका भय दिखाया; संसार-चक्रमें व्यवहारका ठाठ चलानेमें जो दंडस्वरूप लक्ष्मी, वह राजा इत्यादिके भयसे भरपूर है; किसी भी कृत्यद्वारा यशकीर्तिसे मान प्राप्त करना अथवा मानना ऐसी संसारके पामर जीवोंकी अभिलाषा रहा करती है, इसमें महादीनता और कंगालपनेका भय है; बल पराक्रमसे भी इसी प्रकारकी उत्कृष्टता प्राप्त करनेकी चाह रहा करती है, उसमे शत्रुका भय रहा हुआ है; रूप-कांति भोगीको मोहिनीरूप है, उसमें रूप-कांति धारण करनेवाली स्त्रियाँ निरंतर भयरूप हैं; अनेक प्रकारकी गुत्थियोंसे भरपूर शास्त्र-जालमें विवादका भय रहता है; किसी भी सांसारिक सुखके गुणको प्राप्त करनेसे जो आनंद माना जाता है, वह खल मनुष्योंकी निंदाके कारण भयान्वित है; जो अनंत प्यारी लगती है ऐसी यह काया भी कभी न कभी कालरूपी सिंहके मुखमें पड़नेके भयसे पूर्ण है। इस प्रकार संसारके मनोहर किन्तु चपल सुख-साधन भयसे भरे हुए हैं। विवेकसे विचार करनेपर जहाँ भय है वहाँ केवल शोक ही है। जहाँ शोक है वहाँ सुखका अभाव है, और जहाँ सुखका अभाव है वहाँ तिरस्कार करना उचित ही है।

अकेले योगीन्द्र भर्तृहरि ही ऐसा कह गये हैं, यह बात नहीं। कालके अनुसार सृष्टिके निर्माणके समयसे लेकर भर्तृहरिसे उत्तम, भर्तृहरिके समान और भर्तृहरिसे कनिष्ठ कोटिके असंख्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं। ऐसा कोई काल अथवा आर्यदेश नहीं जिसमें तत्त्वज्ञानियोंकी बिलकुल भी उत्पत्ति न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओंने संसार-सुखकी हरेक सामग्रीको शोकरूप बताई है। यह उनके अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शंकर, गौतम, पातंजलि, कपिल, और युवराज शुद्धोदनने अपने प्रवचनोंमें मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश किया है, उसका रहस्य नीचेके शब्दोंमें कुछ कुछ आ जाता है:—

"अहो प्राणियो! संसाररूपी समुद्र अनंत और अपार है। इसका पार पानेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो!"

इस प्रकारका उपदेश देनेमें इनका हेतु समस्त प्राणियोंको शोकसे मुक्त करनेका था। इन सब ज्ञानियोंकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरका उपदेश सर्वत्र यही है कि संसार एकांत और अनंत शोकरूप तथा दुःखप्रद है। अहो! भव्य लोगो! इसमें मधुर मोहिनीको प्राप्त न होकर इससे निवृत्त होओ! निवृत्त होओ!!

महावीरका एक समयके लिये भी संसारका उपदेश नहीं है। इन्होंने अपने समस्त उपदेशोंमें यही बताया है और यही अपने आचरणद्वारा सिद्ध भी कर दिखाया है। कंचन वर्णकी काया, यशोमती जैसी रानी, अतुल साम्राज्यलक्ष्मी और महाप्रतापी स्वजन परिवारका समूह होनेपर भी उनका

मोह त्यागकर और ज्ञानदर्शन-योगमें परायण होकर इन्होंने जो अद्भुतता दिखलायी है, वह अनुपम है। इसी रहस्यका प्रकाश करते हुए पवित्र उत्तराध्ययनसूत्रके आठवें अध्ययनकी पहली गाथामें तत्वाभिलाषी कपिल केवलीके मुखकमलसे महावीरने कहलवाया है कि:—

अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गई न गच्छिज्जा ॥ १ ॥

" अध्रुव और अशाश्वत संसारमें अनेक प्रकारके दुःख हैं। मैं ऐसी कौनसी करणी करूं कि जिस करणीसे दुर्गतिमें न जाऊं ! " इस गाथामें इस भावसे प्रश्न होनेपर कपिल मुनि फिर आगे उपदेश देते हैं।

" अधुवे असासयंमि "—प्रवृत्तिमुक्त योगीश्वरके ये महान् तत्वज्ञानके प्रसादीभूत वचन सतत ही वैराग्यमें ले जानेवाले हैं। अति बुद्धिशालीको संसार भी उत्तम रूपसे मानता है फिर भी ये बुद्धिशाली संसारका त्याग कर देते हैं। यह तत्वज्ञानका प्रशंसनीय चमत्कार है। ये अत्यन्त मेधावी अंतमें पुरुषार्थकी स्फुरणाकर महायोगका साधनकर आत्माके तिमिर-पटको दूर करते हैं। संसारको शोकाब्धि कहनेमें तत्वज्ञानियोंकी भ्रमणा नहीं है, परन्तु ये सभी तत्वज्ञानी कहीं तत्वज्ञान-चंद्रकी सोलह कलाओंसे पूर्ण नहीं हुआ करते; इसी कारणसे सर्वज्ञ महावीरके वचनोंसे तत्वज्ञानके लिये जो प्रमाण मिलता है वह महान्, अद्भुत, सर्वमान्य और सर्वथा मंगलमय है। महावीरके समान ऋषभदेव आदि जो जो और सर्वज्ञ तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने भी निस्पृहतासे उपदेश देकर जगद्धितैषीकी पदवी प्राप्त की है।

संसारमें जो केवल और अनंत भरपूर ताप है, वे ताप तीन प्रकारके हैं—आधि, व्याधि और उपाधि। इनसे मुक्त होनेका उपदेश प्रत्येक तत्वज्ञानी करते आये हैं। संसार-त्याग, शम, दम, दया, शांति, क्षमा, धृति, अप्रभुत्व, गुरुजनका विनय, विवेक, निस्पृहता, ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान इनका सेवन करना; क्रोध, लोभ, मान, माया, अनुराग, अप्रीति, विषय, हिंसा, शोक, अज्ञान, मिथ्यात्व इन सबका त्याग करना; यह सब दर्शनोंका सामान्य रीतिसे सार है। नीचेके दो चरणोंमें इस सारका समावेश हो जाता है:—

प्रभु भजो नीति सजो, परठो परोपकार

अरे ! यह उपदेश स्तुतिके योग्य है। यह उपदेश देनेमें किसीने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता दिखाई है। ये सब स्थूल दृष्टिसे तो समतुल्य दिखाई देते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर उपदेशकके रूपमें सिद्धार्थ राजाके पुत्र श्रमण भगवान् पहिले नम्बर आते हैं। निवृत्तिके लिये जिन जिन विषयोंको पहले कहा है उन उन विषयोंका वास्तविक स्वरूप समझकर संपूर्ण [illegible] राजपुत्र सबसे आगे बढ़ गये हैं। इसके लिये वे अनंत धन्यवादके पात्र हैं !

इन सब [illegible] अनुसरण करनेका क्या प्रयोजन और क्या परिणाम है ! अब इसका निर्णय [illegible] कि इसका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना है और इसका प्रयोजन [illegible] इस मुक्तिको अनुपम श्रेष्ठ कहा है। सूत्रकृतांग नामक [illegible] चौवालीसवीं गाथाके तीसरे चरणमें कहा गया है कि:—

निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा

सब धर्मोंमें मुक्तिको श्रेष्ठ कहा है.

सारांश यह है कि मुक्ति उसे कहते हैं कि संसार-शोकसे मुक्त होना, और परिणाममें ज्ञान दर्शन आदि अनुपम वस्तुओंको प्राप्त करना। जिसमें परम सुख और परमानंदका अखंड निवास है, जन्म-मरणकी विडम्बनाका अभाव है, शोक और दुःखका क्षय है; ऐसे इस विज्ञानयुक्त विषयका विवेचन किसी अन्य प्रसंगपर करेंगे।

यह भी निर्विवाद मानना चाहिये कि उस अनंत शोक और अनंत दुःखकी निवृत्ति इन्हीं सांसारिक विषयोंसे नहीं होगी। जैसे रुधिरसे रुधिरका दाग नहीं जाता, परन्तु वह दाग जलसे दूर हो जाता है इसी तरह शृंगारसे अथवा शृंगारमिश्रित धर्मसे संसारकी निवृत्ति नहीं होती। इसके लिये तो वैराग्य-जलकी आवश्यकता निःसंशय सिद्ध होती है; और इसीलिये वीतरागके वचनोंमें अनुरक्त होना उचित है। कमसे कम इससे विषयरूपी विषका जन्म नहीं होता। अंतमें यही मुक्तिका कारण हो जाता है। हे मनुष्य! इन वीतराग सर्वज्ञके वचनोंको विवेक-बुद्धिसे श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके आत्माको उज्ज्वल कर!

प्रथम दर्शन

वैराग्यकी ओर आत्महितैषी विषयोंकी सुदृढ़ता होनेके लिये बारह भावनाओंका तत्त्वज्ञानियोंने उपदेश किया है:—

१ अनित्यभावनाः—शरीर, वैभव, लक्ष्मी, कुटुम्ब परिवार आदि सब विनाशीक हैं। जीवका केवल मूलधर्म ही अविनाशी है, ऐसा चिंतवन करना पहली अनित्यभावना है।

२ अशरणभावनाः—संसारमें मरणके समय जीवको शरण रखनेवाला कोई नहीं, केवल एक शुभ धर्मकी ही शरण सत्य है, ऐसा चिंतवन करना दूसरी अशरणभावना है।

३ संसारभावनाः—इस आत्माने संसार-समुद्रमें पर्यटन करते हुए सब योनियोंमें जन्म लिया है, इस संसाररूपी जंजीरसे मैं कब छूटूँगा? यह संसार मेरा नहीं, मैं मोक्षमयी हूँ, इस प्रकार चिंतवन करना तीसरी संसारभावना है।

४ एकत्वभावनाः—यह मेरी आत्मा अकेली है, यह अकेली ही आती है, और अकेली जायगी, और अपने किए हुए कर्मोंको अकेली ही भोगेगी, इस प्रकार अंतःकरणसे चिंतवन करना यह चौथी एकत्वभावना है।

५ अन्यत्वभावनाः—इस संसारमें कोई किसीका नहीं, ऐसा विचार करना पाँचवी अन्यत्वभावना है।

६ अशुचिभावनाः—यह शरीर अपवित्र है, मलमूत्रकी खान है, रोग और जराका निवासस्थान है। इस शरीरसे मैं न्यारा हूँ, यह चिंतवन करना छट्ठी अशुचिभावना है।

७ आश्रवभावनाः—राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सब आश्रवके कारण हैं, इस प्रकार चिंतवन करना सातवीं आश्रवभावना है।

८ संवरभावनाः—ज्ञान, ध्यानमें प्रवृत्त होकर जीव नये कर्म नहीं बांधता, यह आठवीं संवरभावना है।

९ निर्जराभावनाः—ज्ञानसहित क्रिया करना निर्जराका कारण है, ऐसा चिन्तवन करना नौवीं निर्जराभावना है।

१० लोकस्वरूपभावनाः—चौदह राजू लोकके स्वरूपका विचार करना लोकस्वरूपभावना है।

११ बोधिदुर्लभभावनाः—संसारमें भ्रमण करते हुए आत्माको सम्यग्ज्ञानकी प्रसादी प्राप्त होना अति कठिन है। और यदि सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति भी हुई तो चारित्र–सर्वविरतिपरिणामरूप धर्म–का पाना तो अत्यंत ही कठिन है, ऐसा चिन्तवन करना यह ग्यारहवीं बोधिदुर्लभभावना है।

१२ धर्मदुर्लभभावनाः—धर्मके उपदेशक तथा शुद्ध शास्त्रके बोधक गुरु और इनके मुखसे उपदेशका श्रवण मिलना दुर्लभ है, ऐसा चिन्तवन करना बारहवीं धर्मदुर्लभभावना है।

इस प्रकार मुक्ति प्राप्त करनेके लिये जिस वैराग्यकी आवश्यकता है, उस वैराग्यको दृढ़ करनेवाली बारह भावनाओंमेंसे कुछ भावनाओंका इस दर्शनके अंतर्गत वर्णन करेंगे। कुछ भावनाओंको अमुक विषयमें बाँट दी हैं; और कुछ भावनाओंके लिये अन्य प्रसंगकी आवश्यकता है, इस कारण उनका यहाँ विस्तार नहीं किया।

प्रथम चित्र

अनित्यभावना

उपजाति

विद्युत्लक्ष्मी प्रभुता पतंग, आयुष्य ते तो जलना तरंग,
पुरंदरी चाप अनंगरंग, शुं राचिये त्यां क्षणनो प्रसंग !

विशेषार्थः—लक्ष्मी बिजलीके समान है। जिस प्रकार बिजलीकी चमक उत्पन्न होकर तत्क्षण ही लय हो जाती है, उसी तरह लक्ष्मी आकर चली जाती है। अधिकार पतंगके रंगके समान है। जिस प्रकार पतंगका रंग चार दिनकी चाँदनी है, उसी तरह अधिकार केवल थोड़े काल तक रहकर हाथसे जाता रहता है। आयु पानीकी हिलोरके समान है। जैसे पानीकी हिलोरें इधर आईं और उधर निकल गईं, उसी तरह जन्म पाया और एक देहमें रहने पाया अथवा नहीं, इतनेमें ही दूसरी देहमें [illegible] इन्द्रधनुषके समान है। जैसे इन्द्रधनुष वर्षाकालमें उत्पन्न [illegible] होकर बुढ़ापेमें नष्ट [illegible]

प्रमाणशिक्षाः—जिस प्रकार उस भिखारीने स्वप्नमें सुख-समुदाय देखे, उनका भोग किया और उनमें आनंद माना उसी तरह पामर प्राणी संसारके स्वप्नके समान सुख-समुदायको महा आनंदरूप मान बैठे हैं। जिस प्रकार भिखारीको वे सुख-समुदाय जागनेपर मिथ्या मालूम हुए थे, उसी तरह तत्त्वज्ञानरूपी जागृतिसे संसारके सुख मिथ्या मालूम होते हैं। जिस प्रकार स्वप्नके भोगोंको न भोगनेपर भी उस भिखारीको शोककी प्राप्ति हुई उसी तरह पामर भव्य संसारमें सुख मान बैठते हैं, और उन्हें भोगे हुओंके समान गिनते हैं, परन्तु उस भिखारीकी तरह वे अंतमें खेद, पश्चात्ताप, और अधोगतिको पाते हैं। जैसे स्वप्नकी एक भी वस्तु सत्य नहीं उसी तरह संसारकी एक भी वस्तु सत्य नहीं। दोनों ही चपल और शोकमय हैं, ऐसा विचारकर बुद्धिमान पुरुष आत्म-कल्याणकी खोज करते हैं।

द्वितीय चित्र

अशरणभावना

उपजाति

सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी, आराध्य आराध्य प्रभाव आणी
अनाथ एकांत सनाथ थाशे, एना विना कोई न बांय स्हाशे।

विशेषार्थः—हे चेतन! सर्वज्ञ जिनेश्वरदेवके द्वारा निस्पृहतासे उपदेश किये हुए धर्मको उत्तम शरणरूप जानकर मन, वचन और कायाके प्रभावसे उसका तू आराधन कर आराधना कर! तू केवल अनाथरूप है उससे सनाथ होगा। इसके विना भवाटवीके भ्रमण करनेमें तेरी बाँह पकड़नेवाला कोई नहीं।

जो आत्मायें संसारके मायामय सुखको अथवा अवदर्शनको शरणरूप मानती हैं, वे अधोगतिको पाती हैं और सदैव अनाथ रहती हैं, ऐसा उपदेश करनेवाले भगवान् अनाथीमुनिके चरित्रको प्रारंभ करते हैं, इससे अशरण भावना सुदृढ़ होगी।

अनाथीमुनि

(देखो मोक्षमाला पृष्ठ १३–१५, पाठ ५–६–७)

* * * *

प्रमाणशिक्षाः—अहो भव्यो! महातपोधन, महामुनि, महाप्रज्ञावान्, महायशवंत, महानिर्ग्रंथ और महाश्रुत अनाथी मुनिने मगधदेशके राजाको अपने बीते हुए चरित्रसे जो उपदेश दिया वह सच-मुच ही अशरण भावना सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीके द्वारा सहन की हुई वेदनाके समान अथवा इससे भी अत्यन्त विशेष असह्य दुःखोंको अनंत आत्मायें सामान्य दृष्टिसे भोगती हुई दीख पड़ती हैं, इनके संबंधमें तुम कुछ विचार करो। संसारमें छायी हुई अनंत अशरणताका त्यागकर सत्य शरणरूप उत्तम तत्त्वज्ञान और परम सुशीलका सेवन करो। अंतमें यही मुक्तिका कारण है। जिस प्रकार संसारमें रहता हुआ अनाथी अनाथ था उसी तरह प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी उत्तम प्राप्तिके विना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिये पुरुषार्थ करना ही श्रेयस्कर है।

तृतीय चित्र

एकत्वभावना

उपजाति

शरीरमें व्याधि प्रत्यक्ष थाय, ते कोई अन्ये लई ना शकाय;
ए भोगवे एक स्व आत्मा पोते, एकत्व एथी नय सुज्ञ गोते।

विशेषार्थः—शरीरमें प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले रोग आदि जो उपद्रव होते हैं उन्हें स्नेही, कुटुम्बी, स्त्री अथवा पुत्र कोई भी नहीं ले सकते। उन्हें केवल एक अपनी आत्मा ही स्वयं भोगती है। इसमें कोई भी भागीदार नहीं होता। तथा पाप, पुण्य आदि सब विपाकोंको अपनी आत्मा ही भोगती है। यह अकेली आती है और अकेली जाती है; इस तरह सिद्ध करके विवेकको भली भाँति जाननेवाले पुरुष एकत्वको निरंतर खोज करते हैं।

नमिराजर्षि

महापुरुषके उस न्यायको अचल करनेवाले नमिराजर्षि और शक्रेन्द्रके वैराग्यके उपदेशक संवादको यहाँ देते हैं। नमिराजर्षि मिथिला नगरीके राजेश्वर थे। स्त्री, पुत्र आदिसे विशेष दुःखको प्राप्त न करने पर भी एकत्वके स्वरूपको परिपूर्णरूपसे पहिचाननेमें राजेश्वरने किंचित् भी विभ्रम नहीं किया। शक्रेन्द्र सबसे पहले जहाँ नमिराजर्षि निवृत्तिमें विराजते थे, वहाँ विप्रके रूपमें आकर परीक्षाके लिये अपने व्याख्यानको शुरू करता है:—

विप्रः—हे राजन्! मिथिला नगरीमें आज प्रबल कोलाहल व्याप्त हो रहा है। हृदय और मनको उद्वेग करनेवाले विलापके शब्दोंसे राजमंदिर और सब घर छाये हुए हैं। केवल तेरी एक दीक्षा ही इन सब दुःखोंका कारण है। अपने द्वारा दूसरेकी आत्माको जो दुःख पहुँचता है उस दुःखको संसारके परिभ्रमणका कारण मानकर तू वहाँ जा, भोला मत बन।

नमिराजः—(गौरव भरे वचनोंसे) हे विप्र! जो तू कहता है वह केवल अज्ञानरूप है। मिथिला नगरीमें एक बगीचा था, उसके बीचमें एक वृक्ष था, वह शीतल छायासे रमणीय था, वह पत्र, पुष्प और फलोंसे युक्त था और वह नाना प्रकारके पक्षियोंको लाभ देता था। इस वृक्षके वायुद्वारा कम्पित होनेसे वृक्षमें रहनेवाले पक्षी दुःखार्त और शरणरहित होनेसे आक्रन्दन कर रहे हैं। वे पक्षी स्वयं वृक्षके लिये विलाप नहीं कर रहे किन्तु वे अपने सुखके नष्ट होनेके कारण ही शोकसे पीड़ित हो रहे हैं।

विप्रः—परन्तु यह देख! अग्नि और वायुके मिश्रणसे तेरा नगर, तेरा अंतःपुर, और मन्दिर जल रहे हैं, इसलिये वहाँ जा और इस अग्निको शांत कर।

नमिराजः—हे विप्र! मिथिला नगरीके उन अंतःपुर और उन मंदिरोंके जलनेसे मेरा कुछ भी नहीं जल रहा। मैं उसी प्रवृत्तिको प्रवृत्ति करता हूं जिससे मुझे सुख हो। इन मंदिर आदिमें मेरा अल्प मात्र भी राग नहीं। मैंने पुत्र, स्त्री आदिके व्यवहारको छोड़ दिया है। मुझे इनमेंसे कुछ भी प्रिय नहीं, और कुछ भी अप्रिय नहीं।

विप्रः—निर्वाह करनेके लिये भिक्षा माँगनेके कारण मुशील प्रव्रज्यामें असह्य परिश्रम सहना पड़ता है, इस कारण उस प्रव्रज्याको त्यागकर अन्य प्रव्रज्या धारण करने की रुचि हो जाती है। अतएव उस उपाधिको दूर करनेके लिये तू गृहस्थाश्रममें रहकर ही पौषध आदि व्रतोंमें तत्पर रह। हे मनुष्यके अधिपति ! मैं ठीक कहता हूँ।

नमिराजः—(हेतु कारणसे प्रेरित) हे विप्र ! बाल अविवेकी चाहे जितना भी उग्र तप करे परन्तु वह सम्यक् श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्मके बराबर नहीं होता। एकाध कला सोलह कलाओंके समान कैसे मानी जा सकती है !

विप्रः—अहो क्षत्रिय ! सुवर्ण, मणि, मुक्ताफल, वस्त्रालंकार और अश्व आदिकी वृद्धि करके फिर जाना।

नमिराजः—(हेतु कारणसे प्रेरित) कदाचित् मेरु पर्वतके समान सोने चाँदीके असंख्यातों पर्वत हों और उनसे भी लोभी मनुष्यकी तृष्णा नहीं बुझती, उसे किंचित्मात्र भी संतोष नहीं होता। तृष्णा आकाशके समान अनंत है। यदि धन, सुवर्ण, पशु इत्यादिसे सकल लोक भर जाय उन सबसे भी एक लोभी मनुष्यकी तृष्णा दूर नहीं हो सकती। लोभकी ऐसी कनिष्ठता है ! अतएव विवेकी पुरुष संतोषनिवृत्तिरूपी तपका आचरण करते हैं।

विप्रः—(हेतु कारणसे प्रेरित) हे क्षत्रिय ! मुझे अत्यन्त आश्चर्य होता है कि तू विद्यमान भोगोंको छोड़ रहा है ! बादमें तू अविद्यमान काम-भोगके संकल्प-विकल्पोंके कारणसे खेदखिन्न होगा। अतएव इस मुनित्वकी सब उपाधिको छोड़ दे।

नमिराजः—(हेतु कारणसे प्रेरित) काम-भोग शल्यके समान हैं; काम-भोग विषके समान हैं; काम-भोग सर्पके तुल्य हैं; इनकी वाँछा करनेसे जीव नरक आदि अधोगतिमें जाता है; इसी तरह क्रोध और मानके कारण दुर्गति होती है; मायासे सद्गतिका विनाश होता है; लोभसे इस लोक और परलोकका भय रहता है, इसलिये हे विप्र ! इनका तू मुझे उपदेश न कर। मेरा हृदय कभी भी चलायमान होनेवाला नहीं, और इस मिथ्या मोहिनीमें अभिरुचि रखनेवाला नहीं। जानबूझकर विष कौन पियेगा ! जानबूझकर दीपक लेकर कुँएमें कौन गिरेगा ! जानबूझकर विभ्रममें कौन पड़ेगा ! मैं अपने अमृतके समान वैराग्यके मधुर रसको अप्रिय करके इस जहरको प्रिय करनेके लिये मिथ्यामें आनेवाला नहीं।

महर्षि नमिराजकी सुदृढ़ता देखकर शक्रेन्द्रको परमानंद हुआ। बादमें ब्राह्मणके रूपको छोड़कर उसने इन्द्रपनेकी विक्रिया धारण की। फिर वह वन्दन करके मधुर वचनोंसे राजर्षिश्वरकी स्तुति करने लगा कि हे महायशस्विन् ! बड़ा आश्चर्य है कि तूने क्रोध जीत लिया। आश्चर्य है कि तूने अहंकारको पराजित किया। आश्चर्य है कि तूने मायाको दूर किया। आश्चर्य है कि तूने लोभको वशमें किया। आश्चर्यकारी है तेरा सरलपना, आश्चर्यकारी है तेरा निर्ममत्व, आश्चर्यकारी है तेरी प्रधान क्षमा और आश्चर्यकारी है तेरी निर्लोभिता। हे पूज्य ! तू इस भवमें उत्तम है और परभवमें उत्तम होगा। तू कर्मरहित

होकर सर्वोच्च सिद्धगतिको प्राप्त करेगा। इस तरह स्तुति करते करते, प्रदक्षिणा करते हुए श्रद्धा-भक्तिसे उसने उस ऋषिके चरणकमलोंको वन्दन किया। तत्पश्चात् वह सुंदर मुकुटवाला शक्रेन्द्र आकाश-मार्गसे चला गया।

प्रमाणशिक्षाः—विप्रके रूपमें नमिराजाके वैराग्यकी परीक्षा करनेमें इन्द्रने क्या न्यूनता की है? कुछ भी नहीं की। संसारकी जो लोलुपतायें मनुष्यको चलायमान करनेवाली हैं उन सब लोलुपताओंके विषयमें महागौरवपूर्ण प्रश्न करनेमें उस इन्द्रने निर्मल भावनासे प्रशंसायोग्य चातुर्य दिखाया है, तो भी देखनेकी बात तो यही है कि नमिराज अंततक केवल कंचनमय रहे हैं। शुद्ध और अखंड वैराग्यके वेगमें अपने प्रवाहित होनेको इन्होंने अपने उत्तरोंमें प्रदर्शित किया है। हे विप्र! तू जिन वस्तुओंको मेरी कहलवाता है वे वस्तुयें मेरी नहीं हैं। मैं अकेला ही हूँ, अकेला जानेवाला हूँ; और केवल प्रशंसनीय एकत्वको ही चाहता हूँ। इस प्रकारके रहस्यमें नमिराज अपने उत्तरको और वैराग्यको दृढ़ बनाते गये हैं। ऐसी परम प्रमाणशिक्षासे भरा हुआ उस महर्षिका चरित्र है। दोनों महात्माओंका परस्परका संवाद शुद्ध एकत्वको सिद्ध करनेके लिये तथा अन्य वस्तुओंके त्याग करनेके उपदेशके लिये यहाँ कहा गया है। इसे भी विशेष दृढ़ करनेके लिये नमिराजको एकत्वभाव किस तरह प्राप्त हुआ, इस विषयमें नमिराजके एकत्वसंबंधको संक्षेपमें यहाँ नीचे देते हैं:—

ये विदेह देश जैसे महान् राज्यके अधिपति थे। ये अनेक यौवनवंती मनोहारिणी स्त्रियोंके समुदायसे घिरे हुए थे। दर्शनमोहिनीके उदय न होनेपर भी वे संसार-लुब्ध जैसे दिखाई देते थे। एक बार इनके शरीरमें दाहज्वर रोगकी उत्पत्ति हुई। मानों समस्त शरीर जल रहा हो ऐसी जलन समस्त शरीरमें व्याप्त हो गई। रोम रोममें हज़ार बिच्छुओंके डँसने जैसी वेदनाके समान दुःख होने लगा। वैद्य-विद्यामें प्रवीण पुरुषोंके औषधोपचारका अनेक प्रकारसे सेवन किया; परन्तु वह सब वृथा हुआ। यह व्याधि लेशमात्र भी कम न होकर अधिक ही होती गई। सम्पूर्ण औषधियाँ दाह-ज्वरकी हितैषी ही होती गई। कोई भी औषधि ऐसी न मिली कि जिसे दाहज्वरसे कुछ भी द्वेष हो। निपुण वैद्य हताश हो गये, और राजेश्वर भी इस महाव्याधिसे तंग आ गये। उसको दूर करनेवाले पुरुषकी खोज चारों तरफ होने लगी। अंतमें एक महाकुशल वैद्य मिला, उसने मलयागिरि चंदनका लेप करना बताया। रूपवन्ती रानियाँ चंदन घिसनेमें लग गई। चंदन घिसनेसे प्रत्येक रानीके हाथमें पहिने हुए कंकणोंके समुदायसे खलभलाहट होने लगा। मिथिलेशके अंगमें दाहज्वरकी एक असह्य वेदना तो थी ही और दूसरी वेदना इन कंकणोंके कोलाहलसे उत्पन्न हो गई। जब यह खलभलाहट उनसे सहन न हो सका तो उन्होंने रानियोंको आज्ञा की कि चंदन घिसना बन्द करो। तुम यह क्या शोर करती हो? मुझसे यह सहा नहीं जाता। मैं एक महाव्याधिसे तो ग्रसित हूँ ही, और दूसरी व्याधिके समान यह कोलाहल हो रहा है, यह असह्य है। सब रानियोंने केवल एक एक कंकणको मंगल-स्वरूप रखकर बाकी कंकणोंको निकाल डाला इससे होता हुआ खलभलाहट शांत हो गया। नमिराजने रानियोंसे पूँछा, क्या तुमने चंदन घिसना बन्द कर दिया? रानियोंने कहा कि नहीं, केवल कोलाहल कम करनेके लिये हम एक एक कंकणको रखकर बाकी कंकणोंका परित्याग करके चंदन

घिस रही हैं। अब हमने कंकणोंको समूहको अपने हाथमें नहीं रक्खा इसलिये कोलाहल नहीं होता। रानियोंके इतने वचनोंको सुनते ही नमिराजके रोमरोममें एकत्व उदित हुआ—एकत्व व्याप्त हो गया, और उनका ममत्व दूर हो गया। सचमुच! बहुतोंके मिलनेसे बहुत उपाधि होती है। देखो! अब इस एक कंकणसे लेशमात्र भी खलभलाहट नहीं होता। कंकणोंके समूहसे सिरको घुमा देनेवाला खलभलाहट होता था। अहो चेतन! तू मान कि तेरी सिद्धि एकत्वमें ही है। अधिक मिलनेसे अधिक ही उपाधि बढ़ती है। संसारमें अनन्त आत्माओंके संबन्धसे तुझे उपाधि भोगनेकी क्या आवश्यकता है? उसका त्याग कर और एकत्वमें प्रवेश कर। देख! अब यह एक कंकण खलभलाहटके बिना कैसी उत्तम शान्तिमें रम रहा है। जब अनेक थे तब यह कैसी अशांतिका भोग कर रहा था इसी तरह तू भी कंकणरूप है। उस कंकणकी तरह तू भी जबतक स्नेही कुटुंबीरूपी कंकण-समुदायमें पड़ा रहेगा तबतक भवरूपी खलभलाहटका सेवन करना पड़ेगा। और यदि इस कंकणकी वर्तमान स्थितिकी तरह एकत्वकी आराधना करेगा तो सिद्धगतिरूपी महापवित्र शांतिको प्राप्त करेगा। इस प्रकार वैराग्यके उत्तरोत्तर प्रवेशमें ही उन नमिराजको पूर्वभवका स्मरण हो आया। वे प्रव्रज्या धारण करनेका निश्चय करके सो गये। प्रभातमें मंगलसूचक बाजों की ध्वनि हुई; नमिराज दाहज्वरसे मुक्त हुए। एकत्वका परिपूर्ण सेवन करनेवाले श्रीमान् नमिराज ऋषिको अभिवंदन हो!

शार्दूलविक्रीडित

राणी सर्व मळी सुचंदन घसी, ने चर्चवामां हती,
बूझ्यो त्यां कककाट कंकणतणो, श्रोती नमिभूपति;
संवादे पण इन्द्रथी दृढ रह्यो, एकत्व साचुं कर्युं,
एवा ए मिथिलेशनुं चरित आ, संपूर्ण अत्रे थयुं ॥ १ ॥

विशेषार्थः—सब रानियाँ मिलकर चंदन घिसकर लेप करनेमें लगी हुई थीं। उस समय कंकणोंका कोलाहल सुनकर नमिराजको बोध प्राप्त हुआ। वे इन्द्रके साथ संवादमें भी अचल रहे; और उन्होंने एकत्वको सिद्ध किया। ऐसे इस मुक्तिसाधक महावैरागी मिथिलेशका चरित्र भावनाबोध ग्रंथके तृतीय चित्रमें पूर्ण हुआ।

चतुर्थ चित्र

अन्यत्वभावना

शार्दूलविक्रीडित

ना मारां तन रूप कांति युवती, ना पुत्र के भ्रात ना,
ना मारां भृत स्नेहियो स्वजन के, ना गोत्र के ज्ञात ना;
ना मारां धन धाम यौवन धरा, ए मोह अज्ञात्वना,
रे! रे! जीव विचार एम ज सदा, अन्यत्वदा भावना ॥ २ ॥

विशेषार्थः—यह शरीर मेरा नहीं, यह रूप मेरा नहीं, यह कांति मेरी नहीं, यह स्त्री मेरी नहीं, यह पुत्र मेरा नहीं, ये भाई मेरे नहीं, ये दास मेरे नहीं, ये स्नेही मेरे नहीं, ये संबंधी मेरे नहीं, यह गोत्र मेरा नहीं, यह ज्ञाति मेरी नहीं, यह लक्ष्मी मेरी नहीं, यह महल मेरा नहीं, यह यौवन मेरा नहीं, और यह भूमि मेरी नहीं, यह सब मोह केवल अज्ञानपनेका है। हे जीव! सिद्धगति पानेके लिये अन्यत्वका उपदेश देनेवाली अन्यत्वभावनाका विचार कर! विचार कर!

मिथ्या ममत्वकी भ्रमणा दूर करनेके लिये और वैराग्यकी वृद्धिके लिये भावपूर्वक मनन करने योग्य राजराजेश्वर भरतके चरित्रको यहाँ उद्धृत करते हैं:—

भरतेश्वर

जिसकी अश्वशालामें रमणीय, चतुर और अनेक प्रकारके तेजी अश्वोंका समूह शोभायमान होता था; जिसकी गजशालामें अनेक जातिके मदोन्मत्त हाथी झूम रहे थे; जिसके अंतःपुरमें नवयौवना, सुकुमारिका और मुग्धा स्त्रियाँ हजारोंकी संख्यामें शोभित हो रहीं थीं; जिसके खज़ानेमें विद्वानोंद्वारा चंचला उपमासे वर्णन की हुई समुद्रकी पुत्री लक्ष्मी स्थिर हो गई थी; जिसकी आज्ञाको देव-देवांगनायें आधीन होकर अपने मुकुट पर चढ़ा रहे थे; जिसके वास्ते भोजन करनेके लिये नाना प्रकारके षट्रस भोजन पल पलमें निर्मित होते थे; जिसके कोमल कर्णके विलासके लिये बारीक और मधुर स्वरसे गायन करनेवाली वारांगनायें तत्पर रहतीं थीं; जिसके निरीक्षण करनेके लिये अनेक प्रकारके नाटक तमाशे किये जाते थे; जिसकी यशःकीर्ति वायु रूपसे फैलकर आकाशके समान व्याप्त हो गई थी; जिसके शत्रुओंको सुखसे शयन करनेका समय न आया था; अथवा जिसके वैरियोंकी वनिताओंके नयनोंमेंसे सदा आँसू ही टपकते रहते थे; जिससे कोई शत्रुता दिखानेको तो समर्थ था ही नहीं, परन्तु जिसके सामने निर्दोषतासे उँगली दिखानेमें भी कोई समर्थ न था; जिसके समक्ष अनेक मंत्रियोंका समुदाय उसकी कृपाकी याचना करता था; जिसका रूप, कांति और सौंदर्य मनोहारक थे; जिसके अंगमें महान् बल, वीर्य, शक्ति और उग्र पराक्रम उछल रहे थे; जिसके क्रीड़ा करनेके लिये महासुगंधिमय बाग-बगीचे और वन उपवन बने हुए थे; जिसके यहाँ मुख्य कुलदीपक पुत्रोंका समुदाय था; जिसकी सेवामें लाखों अनुचर सज्ज होकर खड़े रहा करते थे; वह पुरुष जहाँ जहाँ जाता था वहाँ वहाँ क्षेम क्षेमके उद्गारोंसे, कंचनके फूल और मोतियोंके थालसे बधाई दिया जाता था; जिसके कुंकमवर्णके चरणकमलोंका स्पर्श करनेके लिये इन्द्र जैसे भी तरसते रहते थे; जिसकी आयुधशालामें महायशोमान दिव्य चक्रकी उत्पत्ति हुई थी; जिसके यहाँ साम्राज्यका अखंड दीपक प्रकाशमान था; जिसके सिरपर महान् छह खंडकी प्रभुताका तेजस्वी और प्रकाशमान मुकुट सुशोभित था; कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसकी साधन-सामग्रीका, जिसके दलका, जिसके नगर, पुर और पट्टनका, जिसके वैभवका, और जिसके विलासका संसारमें किसी भी प्रकारसे न्यूनभाव न था; ऐसा वह श्रीमान् राजराजेश्वर भरत अपने सुंदर आदर्श-भुवनमें वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होकर मनोहर सिंहासन पर बैठा था। चारों तरफ़के द्वार खुले थे; नाना प्रकारकी धूपोंका धूम्र सूक्ष्म रीतिसे फैल रहा था; नाना प्रकारके सुगंधित पदार्थ ज़ोरसे महँक रहे थे; नाना प्रकारके सुन्दर स्वरयुक्त वादित्र यांत्रिक-कलासे स्वर खींच रहे थे; शीतल, मंद और सुगंधित वायुकी लहरें छूट रहीं थीं। आभूषण आदि पदार्थोंका निरीक्षण करते हुए वे श्रीमान् राजराजेश्वर भरत उस भुवनमें अनुपम जैसे दिखाई देते थे।

इनके हाथकी एक उँगलीमेंसे अँगूठी निकल पड़ी। भरतका ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ और उन्हें अपनी उँगली बिलकुल शोभाहीन मालूम होने लगी। नौ उँगलियें अँगूठियोंद्वारा जिस मनोहरताको धारण करतीं थीं उस मनोहरतासे रहित इस उँगलीको देखकर इसके ऊपरसे भरतेश्वरको अद्भुत गंभीर

विचारकी स्फुरणा हुई। किस कारणसे यह उँगली ऐसी लगती है ? यह विचार करनेपर उसे मालूम हुआ कि इसका कारण केवल उंगलीमेंसे अंगूठीका निकल जाना ही है। इस बातको विशेषरूपसे प्रमाणित करनेके लिये उसने दूसरी उंगलीकी अंगूठी भी निकाल ली। जैसे ही दूसरी उँगलीमेंसे अँगूठी निकाली, वैसे ही वह उँगली भी शोभाहीन दिखाई देने लगी। फिर इस बातको सिद्ध करनेके लिये उसने तीसरी उंगलीमेंसे भी अँगूठी निकाल ली, इससे यह बात और भी प्रमाणित हुई। फिर चौथी उँगलीमेंसे भी अंगूठी निकाल ली, यह भी इसी तरह शोभाहीन दिखाई दी। इस तरह भरतने क्रमसे दसों उंगलियाँ खाली कर डालीं। खाली हो जानेसे ये सबकी सब उँगलियाँ शोभाहीन दिखाई देने लगीं। इनके शोभाहीन मालूम होनेसे राजराजेश्वर अन्यत्वभावनामें गद्गद होकर इस तरह बोले:—

अहो हो ! कैसी विचित्रता है कि भूमिसे उत्पन्न हुई वस्तुको कूटकर कुशलतापूर्वक घड़नेसे मुद्रिका बनी; इस मुद्रिकासे मेरी उँगली सुंदर दिखाई दी; इस उँगलीमेंसे इस मुद्रिकाके निकल पड़नेसे इससे विपरीत ही दृश्य दिखाई दिया। विपरीत दृश्यसे उँगलीकी शोभाहीनता और नंगापन खेदका कारण हो गया। शोभाहीन मालूम होनेका कारण केवल अँगूठीका न होना ही ठहरा न ? यदि अँगूठी होती तो मैं ऐसी अशोभा न देखता। इस मुद्रिकासे मेरी यह उँगली शोभाको प्राप्त हुई; इस उँगलीसे यह हाथ शोभित होता है; इस हाथसे यह शरीर शोभित होता है; फिर इसमें मैं किसकी शोभा मानूँ ? बड़े आश्चर्यकी बात है ! मेरी इस मानी जाती हुई मनोहर कांतिको और भी विशेष दीप्त करनेवाले ये मणि माणिक्य आदिके अलंकार और रंगबिरंगे वस्त्र ही सिद्ध हुए; यह कांति मेरी त्वचाकी शोभा सिद्ध हुई; यह त्वचा शरीरकी गुप्तताको ढँककर सुंदरता दिखाती है; अहो हो ! यह कैसी उलटी बात है ! जिस शरीरको मैं अपना मानता हूँ वह शरीर केवल त्वचासे, यह त्वचा कांतिसे, और वह कांति वस्त्रालंकारसे शोभित होती है; तो क्या फिर मेरे शरीरकी कुछ शोभा ही नहीं ? क्या यह केवल रुधिर, मांस और हाड़ोंका ही पंजर है ? और इस पंजरको ही मैं सर्वथा अपना मान रहा हूँ। कैसी भूल ! कैसी भ्रमणा ! और कैसी विचित्रता है ! मैं केवल परपुद्गलकी शोभासे ही शोभित हो रहा हूँ। किसी और चीज़से रमणीयता धारण करनेवाले शरीरको मैं अपना कैसे मानूँ ? और कदाचित् ऐसा मानकर यदि मैं इसमें ममत्व भाव रक्खूँ तो वह भी केवल दुःखप्रद और वृथा है। इस मेरी आत्माका इस शरीरसे कभी न कभी वियोग होनेवाला है। जब आत्मा दूसरी देहको धारण करने चली जायगी तब इस देहके यहीं पड़े रहनेमें कोई भी शंका नहीं है। यह काया न तो मेरी हुई और न होगी, फिर मैं इसे अपनी मानता हूँ अथवा मानूं यह केवल मूर्खता ही है। जिसका कभी न कभी वियोग होनेवाला है और जो केवल अन्यत्वभावको ही धारण किये हुए है उसमें ममत्व क्यों रखना चाहिये ? जब यह मेरी नहीं होती तो फिर क्या मुझे इसका होना उचित है ? नहीं, नहीं। जब यह मेरी नहीं तो मैं भी इसका नहीं, ऐसा विचारूँ, दृढ करूँ और आचरण करूँ यही विवेक-बुद्धिका अर्थ है। यह समस्त सृष्टि अनन्त वस्तुओंसे और अनन्त पदार्थोंसे भरी हुई है, उन सब पदार्थोंकी अपेक्षा जिसके समान मुझे एक भी वस्तु प्रिय नहीं वह वस्तु भी जब मेरी न हुई, तो फिर दूसरी कोई वस्तु मेरी कैसे हो

सकती है ! अहो ! मैं बहुत भूल गया । मिथ्या मोहमें फँस गया । वे नवयौवनायें, वे माने हुए कुल-दीपक पुत्र, वह अतुल लक्ष्मी, वह छह खंडका महान् राज्य—मेरा नहीं । इसमेंका लेशमात्र भी मेरा नहीं । इसमें मेरा कुछ भी भाग नहीं । जिस कायासे मैं इन सब वस्तुओंका उपभोग करता हूँ, जब वह भोग्य वस्तु ही मेरी न हुई तो मेरी दूसरी मानी हुई वस्तुयें—स्नेही, कुटुंबी इत्यादि—फिर क्या मेरे हो सकते हैं ? नहीं, कुछ भी नहीं । इस ममत्वभावकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं ! यह पुत्र, यह मित्र, यह कलत्र, यह वैभव और इस लक्ष्मीको मुझे अपना मानना ही नहीं ! मैं इनका नहीं; और ये मेरे नहीं ! पुण्य आदिको साधकर मैंने जो जो वस्तुएँ प्राप्त कीं वे वे वस्तुयें मेरी न हुईं, इसके समान संसारमें दूसरी और क्या खेदकी बात है ! मेरे उग्र पुण्यत्वका क्या यही परिणाम है ! अन्तमें इन सबका वियोग ही होनेवाला है न ? पुण्यत्वके इस फलको पाकर इसकी वृद्धिके लिये मैंने जो जो पाप किये उन सबको मेरी आत्माको ही भोगना है न ? और वह भी क्या अकेले ही ! क्या इसमें कोई भी साथी न होगा ? नहीं नहीं । ऐसा अन्यत्वभाववाला होकर भी मैं ममत्वभाव बताकर आत्माका अहितैषी होऊँ और इसको रौद्र नरकका भोक्ता बनाऊँ, इसके समान दूसरा और क्या अज्ञान है ! ऐसी कौनसी भ्रमणा है ! ऐसा कौनसा अविवेक है ! त्रेसठ शलाका पुरुषोंमेंसे मैं भी एक गिना जाता हूँ, फिर भी मैं ऐसे कृत्यको दूर न कर सकूँ और प्राप्त की हुई प्रभुताको भी खो बैठूँ, यह सर्वथा अनुचित है । इन पुत्रोंका, इन प्रमदाओंका, इस राज-वैभवका, और इन वाहन आदिके सुखका मुझे कुछ भी अनुराग नहीं ! ममत्व नहीं !

राजराजेश्वर भरतके अंतःकरणमें वैराग्यका ऐसा प्रकाश पड़ा कि उनका तिमिर-पट दूर हो गया । उन्हें शुक्लध्यान प्राप्त हुआ, जिससे समस्त कर्म जलकर भस्मीभूत हो गये !! महादिव्य और सहस्र-किरणोंसे भी अनुपम कांतिमान केवलज्ञान प्रगट हुआ । उसी समय इन्होंने पंचमुष्टि केशलोंच किया । शासनदेवीने इन्हें साधुके उपकरण प्रदान किये; और वे महावीतरागी सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर चतुर्गति, चौबीस दंडक, तथा आधि, व्याधि और उपाधिसे विरक्त हुए, चपल संसारके सम्पूर्ण सुख विलासोंसे इन्होंने निवृत्ति प्राप्त की; प्रिय अप्रियका भेद दूर हुआ, और वे निरन्तर स्तवन करने योग्य परमात्मा हो गये ।

प्रमाणशिक्षाः—इस प्रकार छह खंडके प्रभु, देवोंके देवके समान, अतुल साम्राज्य लक्ष्मीके भोक्ता, महाआयुके धनी, अनेक रत्नोंके धारक राजराजेश्वर भरत आदर्श-भुवनमें केवल अन्यत्वभावनाके उत्पन्न होनेसे शुद्ध वैराग्यवान् हुए !

भरतेश्वरका वस्तुतः मनन करने योग्य चरित्र संसारकी शोकार्तता और उदासीनताका पूरा पूरा भाव, उपदेश और प्रमाण उपस्थित करता है । कहो ! इनके घर किस बातकी कमी थी ? न इनके घर नवयौवना स्त्रियोंकी कमी थी, न राज-ऋद्धिकी कमी थी, न पुत्रोंके समुदायकी कमी थी, न कुटुंब-परिवारकी कमी थी, न विजय-सिद्धिकी कमी थी, न नवनिधिकी कमी थी, न रूपकांति-की कमी थी और न यशःकीर्ति की ही कमी थी ।

इस तरह पहले कही हुई उनकी ऋद्धिका पुनः स्मरण कराकर प्रमाणके द्वारा हम शिक्षा-प्रसादी देना चाहते हैं कि भरतेश्वरने विवेकसे अन्यत्वके स्वरूपको देखा, जाना, और सर्प-कंचुकवत् संसारका

परित्याग करके उसके ममत्वको मिथ्या सिद्ध कर बताया। महावैराग्यकी अचलता, निर्ममत्व, और आत्मशक्तिकी प्रफुल्लता ये सब इन महायोगीश्वरके चरित्रमें गर्भित हैं।

एक ही पिताके सौ पुत्रोंमेंसे निन्यानवें पुत्र पहलेसे ही आत्मकल्याणका साधन करते थे। सौवें इन भरतेश्वरने आत्मसिद्धि की। पिताने भी इसी कल्याणका साधन किया। उत्तरोत्तर होनेवाले भरतेश्वरके राज्यासनका भोग करनेवाले भी इसी आदर्श-भुवनमें इसी सिद्धिको पाये हुए कहे जाते हैं। यह सकल सिद्धिसाधक मंडल अन्यत्वको ही सिद्ध करके एकत्वमें प्रवेश कराता है। उन परमात्माओंको अभिवन्दन हो!

शार्दूलविक्रीडित

देखी आंगळि आप एक अडवी, वैराग्य वेगे गया,
छांडी राजसमाजने भरतजी, कैवल्यज्ञानी थया;
चोथुं चित्र पवित्र एज चरिते, पाम्युं अहीं पूर्णता;
ज्ञानीना मन तेज रंजन करो, वैराग्य भावे यथा ॥ १ ॥

विशेषार्थः—अपनी एक उंगली शोभारहित देखकर जिसने वैराग्यके प्रवाहमें प्रवेश किया, जिसने राज-समाजको छोड़कर केवलज्ञानको प्राप्त किया, ऐसे उस भरतेश्वरके चरित्रको बतानेवाला यह चौथा चित्र पूर्ण हुआ। वह यथायोग्यरूपसे वैराग्यभाव प्रदर्शन करके ज्ञानी पुरुषके मनको रंजन करनेवाला होओ!

पंचम चित्र

अशुचिभावना

गीतीवृत्त

खाण मूत्र ने मळनी, रोग जरानुं निवासनुं धाम;
काया एवी गणि ने, मान त्यजीने कर सार्थक आम ॥ १ ॥

विशेषार्थ—हे चैतन्य! इस कायाको मल और मूत्रकी खान, रोग और वृद्धताके रहनेका धाम मानकर उसका मिथ्याभिमान त्याग करके सनत्कुमारकी तरह उसे सफल कर!

इस भगवान् सनत्कुमारका चरित्र यहाँ अशुचिभावनाकी सत्यता बतानेके लिये आरंभ किया जाता है।

सनत्कुमार

कुछ बुरा ही है। यदि हम इस प्रकार अविवेक दिखावें तो फिर बंदरको भी मनुष्य गिननेमें क्या दोष है! इस विचारोंको तो एक पूँछ और भी अधिक प्राप्त हुई है। परन्तु नहीं, मनुष्यत्वका मर्म यह है कि जिसके मनमें विवेक-बुद्धि उदय हुई है वही मनुष्य है, बाकी इसके सिवाय तो सभी दो पैरवाले पशु ही हैं। मेधावी पुरुष निरंतर इस मानवपनेका मर्म इसी तरह प्रकाशित करते हैं। विवेक-बुद्धिके उदयसे मुक्तिके राजमार्गमें प्रवेश किया जाता है, और इस मार्गमें प्रवेश करना ही मानवदेहकी उत्तमता है। फिर भी यह बात सदैव ध्यानमें रखनी उचित है कि यह देह तो सर्वथा अशुचिमय और अशुचिमय ही है। इसके स्वभावमें इसके सिवाय और कुछ नहीं।

भावनाबोध ग्रंथमें अशुचिभावनाके उपदेशके लिये प्रथम दर्शनके पाँचवें चित्रमें सनत्कुमारका दृष्टान्त और प्रमाणशिक्षा पूर्ण हुए।

अंतर्दर्शन

षष्ठ चित्र

निवृत्ति-बोध

हरिगीत छंद

अनंत सौख्य नाम दुःख त्यां रही न मित्रता !
अनंत दुःख नाम सौख्य प्रेम त्यां, विचित्रता !!
उघाड न्याय नेत्रने निहाळरे ! निहाळ तुं !
निवृत्ति शीघ्रमेव धारि ते प्रवृत्ति बाळ तुं ॥ १ ॥

विशेषार्थ:—जिसमें एकांत और अनंत सुखकी तरंगें उछल रही हैं ऐसे शील-ज्ञानको केवल नाममात्रके दुःखसे तंग आकर उन्हें मित्ररूप नहीं मानता, और उनको एकदम भुला डालता है; और केवल अनंत दुःखमय ऐसे संसारके नाममात्र सुखमें तेरा परिपूर्ण प्रेम है, यह कैसी विचित्रता है! अहो चेतन! अब तू अपने ज्ञानरूपी नेत्रोंको खोलकर देख! रे देख!! देखकर शीघ्र ही निवृत्ति अर्थात् शील-ज्ञानको अपना कर और विषय काम-भोगोंकी प्रवृत्तिको जला दे।

ऐसी पवित्र महानिवृत्तिको दृढ़ करनेके लिये उत्तम वैराग्यवान् युवराज मृगापुत्रका मनन करने योग्य चरित्र यहाँ उद्धृत किया है। तूने कैसे दुःखको सुख मान लिया है! और कैसे सुखको दुःख मान लिया है! इसे युवराजके मुखवचन ही प्रत्यक्ष सिद्ध करेंगे।

मृगापुत्र

नाना प्रकारके मनोहर वृक्षोंसे भरे हुए उद्यानोंसे सुशोभित सुग्रीव नामका एक नगर था। उस नगरके राज्यसिंहासनपर बलभद्र नामका एक राजा राज्य करता था। उसकी प्रियंवदा पटरानीका नाम मृगा था। इस दम्पतिके बलश्री नामक एक कुमार उत्पन्न हुआ; किन्तु सब लोग उसे मृगापुत्र कहकर ही पुकारा करते थे। वह अपने माता पिताको अत्यन्त प्रिय था। इस युवराजने गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी संयतिके गुणोंको प्राप्त किया था; इसलिये वह दमीश्वर अर्थात् यतियोंमें अग्रेसर गिने जाने योग्य था। वह मृगापुत्र शिखरबंद आनन्दकारी प्रासादमें अपनी प्राणप्रियाके साथ दोगुंदक देवकी भाँति विलास किया करता था। वह निरन्तर प्रमोदसहित मनसे रहता था। उसके प्रासादका फर्श चन्द्रकांत आदि मणि

और विविध रत्नोंसे जड़ा हुआ था। एक दिन वह कुमार अपने झरोखेमें बैठा हुआ था। वहाँसे नगरका परिपूर्णरूपसे निरीक्षण होता था। इतनेमें मृगापुत्रकी दृष्टि चार राजमार्ग मिलनेवाले चौरायेके उस संगम-स्थानपर पड़ी जहाँ तीन राजमार्ग मिलते थे। उसने वहाँ महातप, महानियम, महासंयम, महाशील और महागुणोंके धामरूप एक शांत तपस्वी साधुको देखा। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता था, त्यों त्यों उस मुनिको वह मृगापुत्र निरख निरखकर देख रहा था।

ऐसा निरीक्षण करनेसे वह इस तरह बोल उठा—जान पड़ता है कि मैंने ऐसा रूप कहीं देखा है, और ऐसा बोलते बोलते उस कुमारको शुभ परिणामोंकी प्राप्ति हुई, उसका मोहका पड़दा हट गया, और उसके भावोंकी उपशमता होनेसे उसे तत्क्षण जातिस्मरण ज्ञान उदित हुआ। पूर्वजातिका स्मरण उत्पन्न होनेसे महाऋद्धिके भोक्ता उस मृगापुत्रको पूर्वके चारित्रका भी स्मरण हो आया। वह शीघ्र ही उस विषयसे विरक्त हुआ, और संयमकी ओर आकृष्ट हुआ। उसी समय वह माता पिताके समीप आकर बोला कि मैंने पूर्वभवमें पाँच महाव्रतोंके विषयमें सुना था; नरकके अनंत दुःखोंको सुना था, और तिर्यंचगतिके भी अनंत दुःखोंको सुना था। इन अनंत दुःखोंसे दुःखित होकर मैं उनसे निवृत्त होनेका अभिलाषी हुआ हूँ। हे गुरुजनो! संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये मुझे उन पाँच महाव्रतोंको धारण करनेकी आज्ञा दो।

कुमारके निवृत्तिपूर्ण वचनोंको सुनकर उसके माता पिताने उसे भोगोंको भोगनेका आमंत्रण दिया। आमंत्रणके वचनोंसे खेदखिन्न होकर मृगापुत्र ऐसे कहने लगा, कि हे माता पिता! जिन भोगोंको भोगनेका आप मुझे आमंत्रण कर रहे हैं उन भोगोंको मैंने खूब भोग लिया है। वे भोग विषफल—किंपाक वृक्षके फलके समान हैं; वे भोगनेके बाद कड़वे विपाकको देते हैं; और सदैव दुःखोत्पत्तिके कारण हैं। यह शरीर अनित्य और सर्वथा अशुचिमय है; अशुचिसे उत्पन्न हुआ है; यह जीवका अशाश्वत वास है, और अनंत दुःखका हेतु है। यह शरीर रोग, जरा और क्लेश आदिका भाजन है। इस शरीरमें मैं रति कैसे करूँ? इस बातका कोई नियम नहीं कि इस शरीरको बालकपनेमें छोड़ देना पड़ेगा अथवा वृद्धपनेमें? यह शरीर पानीके फेनके बुलबुलेके समान है। ऐसे शरीरमें स्नेह करना कैसे योग्य हो सकता है? मनुष्यत्वमें इस शरीरको पाकर यह शरीर कोढ़, ज्वर वगैरे व्याधिसे और जरा मरणसे ग्रस्त रहता है, उसमें मैं क्यों प्रेम करूँ?

जन्मका दुःख, जराका दुःख, रोगका दुःख, मरणका दुःख—इस तरह इस संसारमें केवल दुःख ही दुःख है। भूमि—क्षेत्र, घर, कंचन, कुटुंब, पुत्र, प्रमदा, बांधव इन सबको छोड़कर केवल क्लेश पाकर इस शरीरको छोड़कर अवश्य ही जाना पड़ेगा। जिस प्रकार किंपाक वृक्षके फलका परिणाम सुखदायक नहीं होता वैसे ही भोगका परिणाम भी सुखदायक नहीं होता। जैसे कोई पुरुष महाप्रवास शुरू करे किन्तु साथमें [illegible] और आगे जाकर वह क्षुधा-तृषासे दुःखी होता है, वैसे ही धर्मके आचरण न करनेवाला [illegible] दुःखी होता है, और [illegible] पीड़ित होता है। जिस प्रकार [illegible] पीड़ित होकर सुखको प्राप्त [illegible] सुखको पाता है, अल्प कर्मवाले [illegible] सहित होता है। हे गुरुजनो! जिस समय किसी गृहस्थका घर जलने लगता है, उस समय उस घरका मालिक [illegible] सारको ही लेकर बाकीके [illegible] छोड़ देता है, वैसे ही लोकको [illegible] जरा मरणको छोड़कर उस दाहसे (आप आज्ञा दें तो मैं) अमूल्य आत्माको उबार दूँ।

मृगापुत्रके ऐसे वचनोंको सुनकर मृगापुत्रके माता पिता शंकातुर होकर बोले, हे पुत्र ! यह तू क्या कहता है ! चारित्रका पालना बहुत कठिन है । उसमें यतियोंको क्षमा आदि गुणोंको धारण करना पड़ता है, उन्हें निबाहना पड़ता है, और उनकी यत्नसे रक्षा करनी पड़ती है । संयतिको मित्र और शत्रुमें समभाव रखना पड़ता है । संयतिको अपनी और दूसरोंकी आत्माके ऊपर समबुद्धि रखनी पड़ती है, अथवा सम्पूर्ण जगत्‌के ही ऊपर समानभाव रखना पड़ता है—ऐसे पालनेमें दुर्लभ प्राणातिपातविरति नामके प्रथम व्रतको जीवनपर्यन्त पालना पड़ता है । संयतिको सदैव अप्रमादपनेसे मृषा वचनका त्यागना, हितकारी वचनका बोलना—ऐसे पालनेमें दुष्कर दूसरे व्रतको धारण करना पड़ता है । संयतिको दंत-शोधनके लिये एक सींकतक भी विना दिये हुए न लेना, निर्वद्य और दोषरहित भिक्षाका ग्रहण करना—ऐसे पालनेमें दुष्कर तीसरे व्रतको धारण करना पड़ता है । काम-भोगके स्वादको जानने और अब्रह्मचर्य धारण करनेका त्याग करके संयतिको ब्रह्मचर्यरूप चौथे व्रतको धारण करना पड़ता है, जिसका पालन करना बहुत कठिन है । धन, धान्य, दासका समुदाय, परिग्रह ममत्वका त्याग, सब प्रकारके आरंभका त्याग, इस तरह सर्वथा निर्ममत्वसे यह पाँचवाँ महाव्रत धारण करना संयतिको अत्यन्त ही विकट है । रात्रिभोजनका त्याग, और घृत आदि पदार्थोंके वासी रखनेका त्याग, यह भी अति दुष्कर है ।

हे पुत्र ! तू चारित्र चारित्र क्या रटता है ! क्या चारित्र जैसी दूसरी कोई भी दुःखप्रद वस्तु है ! हे पुत्र ! क्षुधाका परिषह सहन करना, तृषाका परिषह सहन करना, ठंडका परिषह सहन करना, उष्ण-तापका परिषह सहन करना, डाँस मच्छरका परिषह सहन करना, आक्रोश परिषह सहन करना, उपाश्रयका परिषह सहन करना, तृण आदि स्पर्शोका परिषह सहन करना, मलका परिषह सहन करना; निश्चय मान कि ऐसा चारित्र कैसे पाला जा सकता है ! वधका परिषह, और बंधके परिषह कैसे विकट हैं ! भिक्षाचरी कैसी दुर्लभ है ! याचना करना कैसा दुर्लभ है ! याचना करनेपर भी वस्तुका न मिलना यह अलाभ परिषह कितना कठिन है ! कायर पुरुषोंके हृदयको भेद डालनेवाला केशलोंच कैसा विकट है ! तू विचार कर, कर्म-वैरीके लिये रौद्ररूप ब्रह्मचर्य व्रतका पालना कैसा दुर्लभ है ! सचमुच, अधीर आत्माको यह सब अति अति विकट है ।

प्रिय पुत्र ! तू सुख भोगनेके योग्य है । तेरा सुकुमार शरीर अति रमणीय रीतिसे निर्मल स्नान करनेके तो सर्वथा योग्य है । प्रिय पुत्र ! निश्चय ही तू चारित्रको पालनेमें समर्थ नहीं है । चारित्रमें यावज्जीवन भी विश्राम नहीं । संयतिके गुणोंका महासमुदाय लोहेकी तरह बहुत भारी है । संयमके भारका वहन करना अत्यन्त ही विकट है । जैसे आकाश-गंगाके प्रवाहके सामने जाना दुष्कर है, वैसे ही यौवन वयमें संयमका पालना महादुष्कर है । जैसे स्रोतके विरुद्ध जाना कठिन है, वैसे ही यौवन अवस्थामें संयमका पालना महाकठिन है । जैसे भुजाओंसे समुद्रका पार करना दुष्कर है, वैसे ही युवा वयमें संयमगुण-समुद्रका पार करना महादुष्कर है । जैसे रेतका कौर नीरस है, वैसे ही संयम भी नीरस है । जैसे खड्गकी धारके ऊपर चलना विकट है वैसे ही तपका आचरण करना महाविकट है । जैसे सर्प एकात अर्थात् सीधी दृष्टिसे चलता है, वैसे ही चारित्रमें ईर्यासमितिके कारण एकान्तरूपसे चलना महादुष्कर है । हे प्रिय पुत्र ! जैसे लोहेके चनोंको चबाना कठिन है वैसे ही संयमका पालना भी कठिन है । जैसे अग्निकी शिखाका पान करना दुष्कर है वैसे ही यौवनमें यतिपना अंगीकार करना महादुष्कर है । जैसे अत्यंत मंद संहननके धारक कायर पुरुषका यतिपनेको धारण करना और पालना दुष्कर है; जैसे तराजूसे मेरु पर्वतका तोलना दुष्कर है, वैसे ही निश्चलपनेसे,

शंकारहित दस प्रकारके यतिधर्मका पालना दुष्कर है। जैसे भुजाओंसे स्वयंभूरमण समुद्रका पार करना दुष्कर है वैसे ही उपशमहीन मनुष्योंका उपशमरूपी समुद्रको पार कर जाना दुष्कर है।

हे पुत्र ! शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श इन पाँच प्रकारके मनुष्यसंबंधी भोगोंको भोगकर भुक्तभोगी होकर तू वृद्ध अवस्थामें धर्मका आचरण करना। माता पिताके भोगसंबंधी उपदेश सुनकर वह मृगापुत्र माता पितासे इस तरह बोला:—

जिसके विषयकी ओर रुचि ही नहीं उसे संयमका पालना कुछ भी दुष्कर नहीं। इस आत्माने शारीरिक और मानसिक वेदनाको असातारूपसे अनंत बार सहन की है—भोगी है। इस आत्माने महादुःखसे पूर्ण भयको उत्पन्न करनेवाली अति रौद्र वेदनाएँ भोगी हैं। जन्म, जरा और मरण ये भयके धाम हैं। चतुर्गतिरूपी संसार-अटवीमें भटकते हुए मैंने अति रौद्र दुःख भोगे हैं। हे गुरुजनो ! मनुष्य लोकमें अग्नि जो अतिशय उष्ण मानी गई है, इस अग्निसे भी अनंतगुनी उष्ण ताप-वेदना इस आत्माने नरकमें भोगी है। मनुष्यलोकमें ठंड जो अति शीतल मानी गई है, इस ठंडसे भी अनंतगुनी ठंडको असातापूर्वक इस आत्माने नरकमें भोगी है। लोहेके भाजनमें ऊपर पैर बाँधकर और नीचे मस्तक करके देवताओंद्वारा विक्रियासे बनाई हुई धधकती हुई अग्निमें आक्रंदन करते हुए इस आत्माने अत्यन्त उग्र दुःख भोगा है। महादवकी अग्नि जैसी मरुदेशकी वज्रमय बालूके समान कदंब नामकी नदीकी बालू है, पूर्वकालमें ऐसी उष्ण बालूमें मेरी यह आत्मा अनंतबार जलाई गई है।

आक्रंदन करते हुए मुझे भोजन पकानेके बरतनमें पकानेके लिये अनंतबार पटका गया है। नरकमें महारौद्र परमाधार्मिकोंने मुझे मेरे कड़वे विपाकके लिये अनंतोंबार ऊँचे वृक्षकी शाखासे बाँधा है; बांधवरहित मुझे लम्बी लम्बी आरियोंसे चीरा है; अति तीक्ष्ण कंटकोंसे व्याप्त ऊँचे शाल्मलि वृक्षसे बाँधकर मुझे महान् खेद पहुँचाया है; पाशमें बाँधकर आगे पीछे खींचकर मुझे अत्यन्त दुःखी किया है; महा असह्य कोल्हूमें ईखकी तरह अति रौद्रतासे आक्रन्दन करता हुआ मैं पेला गया हूँ। यह सब जो भोगना पड़ा वह केवल अपने अशुभ कर्मके अनंतोंबारके उदयसे ही भोगना पड़ा। साम नामके परमाधार्मिकोंने मुझे कुत्ता बनाया; शबल नामके परमाधार्मिकोंने उस कुत्तेके रूपमें मुझे जमीनपर गिराया; जीर्ण वस्त्रकी तरह फाड़ा; वृक्षकी तरह काटा; इस समय मैं अत्यन्त छटपटाता था।

विकराल खड्गसे, भालेसे तथा दूसरे शस्त्रोंसे उन प्रचंडोंने मेरे टुकड़े टुकड़े किये। नरकमें पापकर्मसे जन्म लेकर महान्‌से महान् दुःखोंके भोगनेमें तिलभर भी कमी न रही थी। परतंत्र मुझको अत्यंत प्रज्वलित रथमें रोजकी तरह जबर्दस्ती जोता गया था। मैं देवताओंकी वैक्रियक अग्निमें महिषकी तरह जलाया गया था। मैं भाड़में भूना जाकर असातासे अत्युग्र वेदना भोगता था। मैं ढंक और गिद्ध नामके विकराल पक्षियोंकी सणसीके समान चोंचोंमें चूँथा जाकर अनंत वेदनासे कायर होकर विलाप करता था। तृषाके कारण जल पीनेको आतुरतासे वेगसे दौड़ते हुए मैं छुरेकी धारके समान अनंत दुःख देनेवाले [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

मैं परवशतासे मृगकी तरह अनंतवार पाशमें पकड़ा गया था। परमाधार्मिकोंने मुझे मगर मच्छके रूपमें जाल डालकर अनंतवार दुःख दिया था। मुझे बाजके रूपमें पक्षीकी तरह जालमें फँसाकर अनंतवार मारा था। फरसा इत्यादि शस्त्रोंसे मुझे अनंतोंवार वृक्षकी तरह काटकर मेरे छोटे छोटे टुकड़े किये थे। जैसे लुहार हथोड़ों आदिके प्रहारसे लोहेको पीटता है वैसे ही मुझे भी पूर्वकालमें परमाधार्मिकोंने अनंतोंवार कूटा था। तांबा, लोहा और सीसेको अग्निमें गलाकर उनका कलकल शब्द करता हुआ रस मुझे अनंतवार पिलाया था। अति रौद्रतासे वे परमाधार्मिक मुझे ऐसा कहते जाते थे कि पूर्वभवमें तुझे माँस प्रिय था, अब ले यह माँस। इस तरह मैंने अपने ही शरीरके खंड खंड टुकड़े अनंतवार गटके थे। मद्यकी प्रियताके कारण भी मुझे इससे कुछ कम दुःख नहीं सहने पड़े। इस तरह मैंने महाभयसे, महात्राससे और महादुःखसे थरथर काँपते हुए अनंत वेदना भोगी थी। जो वेदनायें सहनेमें अति तीव्र, रौद्र और उत्कृष्ट काल स्थितिकी हैं, और जो सुननेमें भी अति भयंकर हैं ऐसी वेदनायें उस नरकमें मैंने अनंतवार भोगी थीं। जैसी वेदना मनुष्यलोकमें दिखाई देती है उससे भी अनंतगुनी अधिक असातावेदनीय नरकमें थी। मैंने सर्व भवोंमें असातावेदनीय भोगी है। वहाँ क्षणमात्र भी सुख न था।

इस प्रकार मृगापुत्रने वैराग्यभावसे संसारके परिभ्रमणके दुःखको कहा। इसके उत्तरमें उसके माता पिता इस तरह बोले, कि हे पुत्र! यदि तेरी इच्छा दीक्षा लेनेकी है तो तू दीक्षा ग्रहण कर, परंतु पीछेसे रोगोत्पत्तिके समय तेरी दवाई कौन करेगा? दुःखनिवृत्ति कौन करेगा? इसके बिना बड़ी कठिनता होगी। मृगापुत्रने कहा यह ठीक है, परन्तु आप विचार करें कि वनमें मृग और पक्षी अकेले ही रहते हैं, जब उन्हें रोग उत्पन्न होता है तो उनकी चिकित्सा कौन करता है? जैसे वनमें मृग अकेले ही विहार करते हैं वैसे ही मैं भी चारित्र-वनमें विहार करूँगा, और सत्रह प्रकारके शुद्ध संयमका अनुरागी होऊँगा, बारह प्रकारके तपका आचरण करूँगा, तथा मृगचर्यासे विचरूँगा। जब मृगको वनमें रोगका उपद्रव होता है, तो वहाँ उसकी चिकित्सा कौन करता है? ऐसा कहकर वह पुनः बोला, कि उस मृगको कौन औषधि देता है? उस मृगके आनन्द, शांति और सुखको कौन पूछता है? उस मृगको आहार जल कौन लाकर देता है? जैसे वह मृग उपद्रवरहित होनेके बाद गहन वनमें जहाँ सरोवर होता है, वहाँ जाता है, और घास पानी आदिका सेवन करके फिर यथेच्छ रूपसे विचरता है वैसे ही मैं भी विचरूँगा। सारांश यह है कि मैं इस प्रकारकी मृगचर्याका आचरण करूँगा। इस तरह मैं भी मृगके समान संयमवान होऊँगा। अनेक स्थलोंमें विचरता हुआ यति मृगके समान अप्रतिबद्ध रहे; यतिको चाहिये वह मृगके समान विचरकर मृगचर्याका सेवन करके, सावद्य दूर करके विचरे। जैसे मृग, तृण जल आदिकी गोचरी करता है वैसे ही यति भी गोचरी करके संयम-भारका निर्वाह करे। वह दुराहारके लिये गृहस्थका तिरस्कार अथवा उसकी निंदा न करे, मैं ऐसे ही संयमका आचरण करूँगा।

'एवं पुत्तो जहासुहं'—हे पुत्र! जैसे तुझे सुख हो वैसे कर! इस प्रकार माता पिताने आज्ञा दे दी। जैसे महानाग कांचली त्यागकर चला जाता है, वैसे ही वह मृगापुत्र संसारको त्याग करके संयम-धर्ममें सावधान हुआ और कंचन, कामिनी, मित्र, पुत्र, ज्ञाति और सगे सम्बन्धियोंका परित्यागी हुआ। जैसे वस्त्रको झटककर धूलको झाड़ डालते हैं वैसे ही वह भी प्रपंचजालको त्यागकर दीक्षा लेनेके लिये निकल पड़ा। वह पवित्र पाँच महाव्रतोंसे युक्त

हुआ; पाँच समितियोंसे सुशोभित हुआ; त्रिगुप्तियोंसे गुप्त हुआ; बाह्य और अभ्यंतर द्वादश तपसे संयुक्त हुआ; ममत्वरहित हुआ; निरहंकारी हुआ; स्त्रियों आदिके संगसे रहित हुआ; और इसका समस्त प्राणियोंमें समभाव हुआ। आहार जल प्राप्त हो अथवा न हो, सुख हो या दुःख हो, जीवन हो या मरण हो, कोई स्तुति करो अथवा कोई निंदा करो, कोई मान करो अथवा अपमान करो, वह उन सबपर समभावी हुआ। वह ऋद्धि, रस और सुख इन तीन गर्वोंके अहंपदसे विरक्त हुआ; मनदंड, वचनदंड और कायदंडसे निवृत्त हुआ; चार कषायोंसे मुक्त हुआ; वह मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यात्वशल्य इन तीन शल्योंसे विरक्त हुआ; सात महाभयोंसे भयरहित हुआ; हास्य और शोकसे निवृत्त हुआ, निदानरहित हुआ; राग द्वेषरूपी बंधनसे छूट गया; वांछारहित हुआ; सब प्रकारके विलाससे रहित हुआ; और कोई तलवारसे काटे या कोई चंदनका विलेप करे उसपर समभावी हुआ। उसने पापके आनेके सब द्वारोंको बंद कर दिया; वह शुद्ध अंतःकरण सहित धर्मध्यान आदि व्यापारमें प्रशस्त हुआ; जिनेन्द्र-शासनके तत्त्वोंमें परायण हुआ; वह ज्ञानसे, आत्मचारित्रसे, सम्यक्त्वसे, तपसे और प्रत्येक महाव्रतकी पाँच पाँच भावनाओंसे अर्थात् पाँचो महाव्रतोंकी पचीस भावनाओंसे, और निर्मलतासे अनुपम-रूपसे विभूषित हुआ। अंतमें वह महाज्ञानी युवराज मृगापुत्र सम्यक् प्रकारसे बहुत वर्षोंतक आत्म-चारित्रकी सेवा करके एक मासका अनशन करके सर्वोत्तम मोक्षगतिमें गया।

प्रमाणशिक्षाः—तत्त्वज्ञानियोंद्वारा सप्रमाण सिद्धकी हुई द्वादश भावनाओंमें की संसारभावनाको दृढ़ करनेके लिये यहाँ मृगापुत्रके चरित्रका वर्णन किया गया है। संसार-अटवीमें परिभ्रमण करनेमें अनंत दुःख है यह विवेक-सिद्ध है; और इसमें भी जिसमें निमेषमात्र भी सुख नहीं ऐसी नरक अधोगतिके अनंत दुःखोंको युवक ज्ञानी योगीन्द्र मृगापुत्रने अपने माता पिताके सामने वर्णन किया है। वह केवल संसारसे मुक्त होनेका वीतरागी उपदेश देता है। आत्म-चारित्रके धारण करनेपर तप, परिषह आदिके बाह्य दुःखको दुःख मानना और महा अधोगतिके सपनरूप अनंत दुःखको बहिर्भाव मोहिनीसे सुख मानना, यह देखो कैसी अनविचित्रता है! आत्म-चारित्रका दुःख दुःख नहीं, परन्तु वह परम सुख है, और अन्तमें वह अनंतसुख-तरंगकी प्राप्तिका कारण है। इसी तरह भोगविलास आदिका सुख भी क्षणिक और बहिर्दृश्य सुख केवल दुःख ही है, वह अन्तमें अनंत दुःखका कारण है; यह बात सप्रमाण सिद्ध करनेके लिये महाज्ञानी मृगापुत्रके वैराग्यको यहाँ दिखाया है। इस महाप्रभावशाली, महा-यशोमान मृगा... आत्मचारित्र ... अद्भुत शुभाचरण करता है, वह इसके ... ... है। ...

सप्तम चित्र

आश्रवभावना

बारह अविरति, सोलह कषाय, नव नोकषाय, पाँच मिथ्यात्व और पन्द्रह योग ये सब मिलकर सत्तावन आश्रव-द्वार अर्थात् पापके प्रवेश होनेकी प्रनालिकायें हैं।

कुंडरीक

महाविदेहमें विशाल पुंडरिकिणी नगरीके राज्यसिंहासनपर पुण्डरीक और कुण्डरीक नामके दो भाई राज करते थे। एक समय वहाँ तत्त्वविज्ञानी मुनिराज विहार करते हुए आये। मुनिके वैराग्य-वचनामृतसे कुंडरीक दीक्षामें अनुरक्त हो गया, और उसने घर आनेके पश्चात् पुंडरीकको राज्य सौंपकर चारित्रको अंगीकार किया। रूखा सूखा आहार करनेके कारण वह थोड़े समयमें ही रोगग्रस्त हो गया, इस कारण अंतमे उसका चारित्र भंग हो गया। उसने पुंडरीकिणी महानगरीकी अशोकवाटिकामें आकर ओघा और मुखपत्ती वृक्षपर लटका दिये; और वह इस बातका निरंतर सोच करने लगा कि अब पुंडरीक मुझे राज देगा या नहीं ? वनरक्षकने कुंडरीकको पहचान लिया। उसने जाकर पुंडरीकसे कहा कि बहुत व्याकुल अवस्थामें आपके भाई अशोक बागमें ठहरे हुए हैं। पुंडरीकने वहाँ आकर कुंडरीकके मनोगत भावोंको जान लिया, और उसे चारित्रसे डगमगाते देखकर बहुतसा उपदेश दिया, और अन्तमें राज सौंपकर घर चला आया।

कुंडरीककी आज्ञाको सामंत अथवा मंत्री लोग कोई भी न मानते थे, और वह हजार वर्षतक प्रवज्याका पालन करके पतित हो गया है, इस कारण सब कोई उसे धिक्कारते थे। कुंडरीकने राज होनेके बाद अति आहार कर लिया, इस कारण उसे रात्रिमें बहुत पीड़ा हुई और वमन हुआ उसपर अप्रीति होनेके कारण उसके पास कोई भी न आया, इससे कुण्डरीकके मनमें प्रचंड क्रोध उत्पन्न हुआ। उसने निश्चय किया कि यदि इस रोगसे मुझे शांति मिले तो फिर मैं सुबह होते ही इन सबको देख लूँगा। ऐसे महादुर्ध्यानसे मरकर वह सातवें नरकमें अपयठाण पाथड़ेमें तैंतीस सागरकी आयुके साथ अनंत दुःखमें जाकर उत्पन्न हुआ। कैसा विपरीत आश्रव-द्वार !!!

इस प्रकार सप्तम चित्रमें आश्रवभावना समाप्त हुई।

अष्टम चित्र

संवरभावना

सम्वर भावना—जो ऊपर कहा है वह आश्रव-द्वार है। और पाप-प्रनालिकाको सर्व प्रकारसे रोकना (आते हुए कर्म-समूहको रोकना) वह संवरभाव है।

पुंडरीक

(कुंडरीककी कथा अनुसंधान) कुंडरीकके मुखपत्ती इत्यादि उपकरणोंको ग्रहणकर पुंडरीकने निश्चय किया कि मुझे पहिले महर्षि गुरुके पास जाना चाहिये, और उसके बाद ही अन्न जल ग्रहण करना चाहिये। नंगे पैरोंसे चलनेके कारण उसके पैरोंमें कंकरों और काँटोंके चुभनेसे खूनकी धारायें निकलने लगीं तो भी वह उत्तम ध्यानमें समताभावसे अवस्थित रहा। इस कारण यह महानुभाव पुंडरीक मरकर समर्थ सर्वार्थसिद्धि विमानमें तैंतीस सागरकी उत्कृष्ट आयुसहित देव हुआ। आश्रवसे कुंडरीककी कैसी दुःखदशा हुई और संवरसे पुण्डरीकको कैसी सुखदशा मिली !

संवरभावना-द्वितीय दृष्टांत

श्रीवज्रस्वामी

श्रीवज्रस्वामी कंचन-कामिनीके द्रव्य-भावसे सम्पूर्णतया परित्यागी थे। किसी श्रीमंतकी रुक्मिणी नामकी मनोहारिणी पुत्री वज्रस्वामीके उत्तम उपदेशको श्रवण करके उनपर मोहित हो गई। उसने घर आकर माता पितासे कहा कि यदि मैं इस देहसे किसीको पति बनाऊँ तो केवल वज्रस्वामीको ही बनाऊँगी! किसी दूसरेके साथ संलग्न न होनेकी मेरी प्रतिज्ञा है। रुक्मिणीको उसके माता पिताने बहुत कुछ समझाया, और कहा कि पगली! विचार तो सही कि कहीं मुनिराज भी विवाह करते हैं! इन्होंने तो आश्रव-द्वारकी सत्य प्रतिज्ञा ग्रहण की है, तो भी रुक्मिणीने न माना। निरुपाय होकर धनावा सेठने बहुतसा द्रव्य और सुरूपा रुक्मिणीको साथमें लिया, और जहाँ वज्रस्वामी विराजते थे, वहाँ आकर उनसे कहा कि इस लक्ष्मीका आप यथारुचि उपयोग करें, इसे वैभव-विलासमें काममें लें; और इस मेरी महासुकोमला रुक्मिणी पुत्रीसे पाणिग्रहण करें। ऐसा कहकर वह अपने घर चला आया।

यौवन-सागरमें तैरती हुई रूपकी राशि रुक्मिणीने वज्रस्वामीको अनेक प्रकारसे भोगोंका उपदेश दिया; अनेक प्रकारसे भोगके सुखोंका वर्णन किया; मनमोहक हावभाव तथा अनेक प्रकारके चलायमान करनेवाले बहुतसे उपाय किये; परन्तु वे सब वृथा गये। महासुंदरी रुक्मिणी अपने मोह-कटाक्षमें निष्फल हुई। उग्रचरित्र विजयमान वज्रस्वामी मेरुकी तरह अचल और अडोल रहे। रुक्मिणीके मन, वचन और तनके सब उपदेशों और हावभावसे वे लेशमात्र भी नहीं पिघले। ऐसी महाविशाल दृढ़ता देखकर रुक्मिणी समझ गई, और उसने निश्चय किया कि ये समर्थ जितेन्द्रिय महात्मा कभी भी चलायमान होनेवाले नहीं। लोहे और पत्थरका पिघलाना सुलभ है, परन्तु इस महापवित्र साधु वज्रस्वामीको पिघलानेकी आशा निरर्थक ही है, और वह अधोगतिका कारण है। ऐसे विचार कर उस रुक्मिणीने अपने पिताकी दी हुई लक्ष्मीको शुभ क्षेत्रमें लगाकर चारित्रको ग्रहण किया; मन, वचन और कायाको अनेक प्रकारसे दमन करके आत्म-कल्याणकी साधना की, इसे तत्त्वज्ञानी सम्वरभावना कहते हैं।

इस प्रकार अष्टम चित्रमें संवरभावना समाप्त हुई।

नवम चित्र

निर्जराभावना

बारह प्रकारके तपसे कर्मोंके समूहको जलाकर भस्मीभूत कर डालनेका नाम निर्जराभावना है। बारह प्रकारके तपमें छह प्रकारका बाह्य और छह प्रकारका अभ्यंतर तप है। अनशन, ऊणोदरी वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश और संलीनता ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, शास्त्रपठन, ध्यान, और कायोत्सर्ग ये छह अभ्यंतर तप हैं। निर्जरा दो प्रकारकी है—एक अकाम निर्जरा और दूसरी सकाम निर्जरा। निर्जराभावनापर हम एक विप्र-पुत्रका दृष्टान्त कहते हैं।

दृढ़प्रहारी

किसी ब्राह्मण [illegible] उसको अपने घरसे निकाल दिया। वह वहांसे निकल [illegible] लड़केको ला दिया उस लड़केको अनुभवने उसे अपने कामसे [illegible] दूरीके दमन करनेमें दृढ़प्रहारी [illegible] उसका दृढ़प्रहारी रहा [illegible] दृढ़प्रहारी चोरोंका अगुआ हो गया, और [illegible] करनेमें सबसे [illegible] सिद्ध हुआ। उसने बहुतसे प्राणियोंके

सप्तम चित्र

आश्रवभावना

बारह अविरति, सोलह कषाय, नव नोकषाय, पाँच मिथ्यात्व और पन्द्रह योग ये सब मिलकर सत्तावन आश्रव-द्वार अर्थात् पापके प्रवेश होनेकी प्रनालिकायें हैं।

कुंडरीक

महाविदेहमें विशाल पुंडरिकिणी नगरीके राज्यसिंहासनपर पुण्डरीक और कुण्डरीक नामके दो भाई राज करते थे। एक समय वहाँ तत्त्वविज्ञानी मुनिराज विहार करते हुए आये। मुनिके वैराग्य-वचनामृतसे कुंडरीक दीक्षामें अनुरक्त हो गया, और उसने घर आनेके पश्चात् पुंडरीकको राज्य सौंपकर चारित्रको अंगीकार किया। रूखा सूखा आहार करनेके कारण वह थोड़े समयमें ही रोगग्रस्त हो गया, इस कारण अंतमें उसका चारित्र भंग हो गया। उसने पुंडरकिणी महानगरीकी अशोकवाटिकामें आकर ओघा और मुखपत्ती वृक्षपर लटका दिये; और वह इस बातका निरंतर सोच करने लगा कि अब पुंडरीक मुझे राज देगा या नहीं? वनरक्षकने कुंडरीकको पहचान लिया। उसने जाकर पुंडरीकसे कहा कि बहुत व्याकुल अवस्थामें आपके भाई अशोक बागमें ठहरे हुए हैं। पुंडरीकने वहाँ आकर कुंडरीकके मनोगत भावोंको जान लिया, और उसे चारित्रसे डगमगाते देखकर बहुतसा उपदेश दिया, और अन्तमें राज सौंपकर घर चला आया।

कुंडरीककी आज्ञाको सामंत अथवा मंत्री लोग कोई भी न मानते थे, और वह हजार वर्षतक प्रवज्याका पालन करके पतित हो गया है, इस कारण सब कोई उसे धिक्कारते थे। कुंडरीकने राज होनेके बाद अति आहार कर लिया, इस कारण उसे रात्रिमें बहुत पीड़ा हुई और वमन हुआ उसपर अप्रीति होनेके कारण उसके पास कोई भी न आया, इससे कुण्डरीकके मनमें प्रचंड क्रोध उत्पन्न हुआ। उसने निश्चय किया कि यदि इस रोगसे मुझे शांति मिले तो फिर मैं सुबह होते ही इन सबको देख लूँगा। ऐसे महादुर्ध्यानसे मरकर वह सातवें नरकमें अपयठाण पाथड़ेमें तेंतीस सागरकी आयुके साथ अनन्त दुःखमें जाकर उत्पन्न हुआ। कैसा विपरीत आश्रव-द्वार!!!

इस प्रकार सप्तम चित्रमें आश्रवभावना समाप्त हुई।

अष्टम चित्र

संवरभावना

सम्वर भावना—जो ऊपर कहा है वह आश्रव-द्वार है। और पाप-प्रनालिकाको सर्व प्रकारसे रोकना (आते हुए कर्म-समूहको रोकना) वह संवरभाव है।

पुंडरीक

(कुंडरीककी कथा अनुसंधान) कुंडरीकके मुखपत्ती इत्यादि उपकरणोंको ग्रहणकर पुंडरीकने निश्चय किया कि मुझे पहिले महर्षि गुरुके पास जाना चाहिये, और उसके बाद ही अन्न जल ग्रहण करना चाहिये। नंगे पैरोंसे चलनेके कारण उसके पैरोंमें कंकरों और काँटोंके चुभनेसे खूनकी धारायें निकलने लगीं तो भी वह उत्तम ध्यानमें समताभावसे अवस्थित रहा। इस कारण यह महानुभाव पुंडरीक मरकर समर्थ सर्वार्थसिद्धि विमानमें तेंतीस सागरकी उत्कृष्ट आयुसहित देव हुआ। आश्रवसे कुंडरीककी कैसी दुःखदशा हुई और संवरसे पुण्डरीकको कैसी सुखदशा मिली!

प्राण लिये । एक समय अपने साथी डाकुओंको लेकर उसने एक महानगरको लूटा । दृढ़प्रहारी एक विप्रके घर बैठा था । उस विप्रके यहाँ बहुत प्रेमभावसे क्षीर-भोजन बनाया गया था। उस क्षीर-भोजनके भाजनसे उस विप्रके लोलुपी बालक चिपट रहे थे । दृढ़प्रहारी उस भोजनको छूने लगा । ब्राह्मणीने कहा, हे मूर्खराज ! इसे क्यों छूता है ? यह फिर हमारे काममें नहीं आवेगा, तू इतना भी नहीं समझता । दृढ़प्रहारीको इन वचनोंसे प्रचंड क्रोध आ गया, और उसने उस दीन स्त्रीको मार डाला । नहाते नहाते ब्राह्मण सहायताके लिये दौड़ा आया, उसने उसे भी परभवको पहुँचाया । इतनेमें घरमेंसे एक दौड़ती हुई गाय आयी और वह अपने सींगोंसे दृढ़प्रहारीको मारने लगी । उस महादुष्टने उसे भी कालके सुपुर्द की । उसी समय इस गायके पेटमेंसे एक बछड़ा निकलकर नीचे पड़ा । उसे तड़फता देख दृढ़प्रहारीके मनमें बहुत बड़ा पश्चात्ताप हुआ । मुझे धिक्कार है कि मैंने महाघोर हिंसाएँ कर डाली ! अपने इस पापसे मेरा कब छुटकारा होगा ! सचमुच आत्म-कल्याणके साधन करनेमें ही श्रेय है।

ऐसी उत्तम भावनासे उसने पंचमुष्टि केशलोंच किया । वह नगरीके किसी मुहल्लेमें आकर उग्र कायोत्सर्गसे अवस्थित हो गया । दृढ़प्रहारी पहिले इस समस्त नगरको संतापका कारण हुआ था, इस कारण लोगोंने इसे अनेक तरहसे संताप देना आरंभ किया । आते जाते हुए लोगोंके धूल-मिट्टी और ईंट पत्थरके फेंकनेसे और तलवारकी मूठसे मारनेसे उसे अत्यन्त संताप हुआ । वहाँ लोगोंने डेढ़ महिनेतक उसका अपमान किया । बादमें जब लोग थक गये तो उन्होंने उसे छोड़ दिया । दृढ़प्रहारी वहाँसे कायोत्सर्गका पालनकर दूसरे मुहल्लेमें ऐसे ही उग्र कायोत्सर्गमें अवस्थित हो गया । उस दिशाके लोगोंने भी उसका इसी तरह अपमान किया । उन्होंने भी उसे डेढ़ महीने तंग करके छोड़ दिया । वहाँसे कायोत्सर्गका पालनकर दृढ़प्रहारी तीसरे मुहल्लेमें गया । वहाँके लोगोंने भी उसका इसी तरह महाअपमान किया । वहाँसे डेढ़ महीने बाद वह चौथे मुहल्लेमें डेढ़ मासतक रहा । वहाँ अनेक प्रकारके परिषहोंको सहनकर वह क्षमामें लीन रहा । छठे मासमें अनंत कर्म-समुदायको जलाकर अत्यन्त शुद्ध होते होते वह कर्मरहित हो गया । उसने सब प्रकारके ममत्वका त्याग किया । वह अनुपम केवलज्ञान पाकर मुक्तिके अनंत सुखानंदसे युक्त हुआ । यह निर्जराभावना दृढ़ हुई । अब—

दशमचित्र

लोकस्वरूपभावना

लोकस्वरूपभावना:—इस भावनाका स्वरूप यहाँ संक्षेपमें कहना है । यदि पुरुष दो हाथ कमरपर रखकर पैरोंको चौड़े करके खड़ा हो तो वैसा ही लोकनाल अथवा लोकका स्वरूप जानना चाहिये । यह लोक स्वरूप तिरछे थालके आकारका है, अथवा खड़े मृदंगके समान है । लोकके नीचे भुवनपति, व्यन्तर, और सात नरक हैं; मध्य भागमें, अढ़ाई द्वीप हैं; ऊपर बारह देवलोक, नव ग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान और उनके ऊपर अनन्त सुखमय पवित्र सिद्धगतिकी पड़ोसी सिद्धशिला है । यह लोकालोक प्रकाशक, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और निरुपम केवलज्ञानियोंने कहा है । संक्षेपमें लोकस्वरूप भावनाको कहा ।

इस दर्शनमें पापप्रणालिकाको रोकनेके लिये आस्रवभावना और संवरभावना, तप महाफलके लिये निर्जराभावना, और लोकस्वरूपके कुछ तत्त्वोंके जाननेके लिये लोकस्वरूपभावनायें इन चार चित्रोंमें पूर्ण हुईं।

दशम चित्र समाप्त.